श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु-बिन्दु

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर विरचित

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति एवं तदन्तर्गत भारतव्यापी
श्रीगौड़ीय मठोंके प्रतिष्ठाता, श्रीकृष्णचैतन्याम्नाय
दशमाधस्तनवर श्रीगौड़ीयाचार्य केशरी
नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्री

श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके अनुगृहीत

त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज
द्वारा अनुवादित एवं सम्पादित

गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन

प्रकाशक—

श्रीमान् प्रेमानन्द ब्रह्मचारी (सेवारत्न)

द्वितीय संस्करण—५००० प्रतियाँ

त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त त्रिविक्रम गोस्वामी महाराज की आविर्भाव तिथि

श्रीचैतन्याब्द ५१९

२६ जनवरी, २००६

प्राप्तिस्थान

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
मथुरा (उ॰प्र॰)
०५६५–२५०२३३४

श्रीरूप–सनातन गौड़ीय मठ
दानगली, वृन्दावन (उ॰प्र॰)
०५६५–२४४३२७०

श्रीरमणबिहारी गौड़ीय मठ
बी–३, जनकपुरी, नई दिल्ली
०११–२५५३३२६८

श्रीगिरिधारी गौड़ीय मठ
राधाकुण्ड रोड,
गोवर्धन (उ॰प्र॰)
०५६५–२८१५६६८

खण्डेलवाल एण्ड सन्स
अठखम्भा बाजार,
वृन्दावन (उ॰प्र॰)
०५६५–२४४३१०१

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ संख्या
१) उत्तमाभक्ति	२
२) उत्तमाभक्तिके प्रकार	१६
३) साधनभक्ति	१८
४) प्रेम आविर्भावका क्रम	२२
५) भजनके चौंसठ अङ्ग	३३
६) सेवापराध	९०
७) नामापराधका गुरुत्व	९४
८) नामापराध	९५
९) वैधीभक्ति	९७
१०) रागानुगाभक्ति	१००
११) भावभक्ति	११२
१२) प्रेमभक्ति	११८
१३) भक्तिरस	१२१
१४) भावप्रकाशका तारतम्य	१२६
१५) स्थायीभाव	१२६
१६) शान्तरस	१२८
१७) दास्यरस	१२९
१८) सख्यरस	१३२
१९) वात्सल्यरस	१३४
२०) मधुर या श‍ृङ्गाररस	१३५
२१) रसोंकी परस्पर मैत्री और वैर भावका विवेचन	१३७

२२) भावोंका सम्मिश्रण १३७
२३) गौणरस १३८
२४) मुख्यरसोंमें गौणरसोंका अन्तर्भाव १३९
२५) रसाभासका विविचेन १४०

प्रस्तावना

श्रीगौड़ीय-वैष्णवाचार्य-मुकुटमणि महामहोपाध्याय श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इस ग्रन्थके रचयिता है। इस ग्रन्थमें उत्तमाभक्तिका स्वरूप, भेद, साधनभक्ति, प्रेमाविर्भावका क्रम, भजनके अङ्गसमूह, सेवापराध, नामापराध, वैधी और रागानुगा साधनभक्ति, भावभक्ति, प्रेमभक्ति तथा भक्तिरसका वर्णन किया है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरका जीवन-चरित्र

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर नदिया जिलेमें राढ़ीय श्रेणी विप्रकुलमें आविर्भूत हुए थे। ये हरिवल्लभके नामसे प्रसिद्ध थे। रामभद्र और रघुनाथ नामक इनके दो बड़े भाई थे। बाल्यकालमें इन्होंने देवग्राम नामक एक ग्राममें व्याकरण पाठ समाप्त कर मुर्शिदाबाद जिलेके शैयदाबाद नामक ग्राममें (गुरुगृहमें) भक्ति-शास्त्रोंका अध्ययन किया। इन्होंने बिन्दु, किरण और कणा—इन तीनों ग्रन्थोंकी रचना शैयदाबाद ग्राममें अध्ययन करते समय ही की थी। कुछ दिनों बाद ये गृहत्याग कर वृन्दावन चले आये। यहीं पर इन्होंने विभिन्न ग्रन्थोंकी रचनाएँ व टीकाएँ लिखीं।

श्रीमन्महाप्रभु और उनके अनुगत षड्गोस्वामियोंके अप्रकट होने पर शुद्धभक्ति-धारा श्रीनिवासाचार्य, श्रीनरोत्तम ठाकुर और श्रीश्यामानन्द—तीनों प्रभुओंके माध्यमसे प्रवाहित हो रही थी। श्रील नरोत्तम ठाकुरकी शिष्य परम्परामें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर चतुर्थ-पुरुष हैं। श्रील नरोत्तम ठाकुर

महाशयके शिष्यका नाम श्रीगङ्गानारायण चक्रवर्ती महाशय था। ये मुर्शिदाबाद जिलेके अन्तर्गत बालूचर गम्भिलामें रहते थे। इनको कोई पुत्र न था, केवलमात्र एक कन्या थी जिसका नाम विष्णुप्रिया था। श्रील नरोत्तम ठाकुरके एक वारेन्द्र श्रेणीके दूसरे शिष्य भी थे, जिनका नाम रामकृष्ण भट्टाचार्य था। इन रामकृष्ण भट्टाचार्यके कनिष्ठ पुत्रका नाम कृष्णचरण था। इन कृष्णचरणको श्रीगङ्गानारायणने दत्तकपुत्रके रूपमें ग्रहण किया। श्रीकृष्णचरणके शिष्य राधारमण चक्रवर्ती थे और ये श्रीराधारमण ही श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरके श्रीगुरुदेव हैं। रासपञ्चाध्यायकी सारार्थदर्शिनी टीकाके प्रारम्भमें इन्होंने ऐसा लिखा है—

श्रीरामकृष्णगङ्गाचरणान् नत्वा गुरुनुरुप्रेम्नः।
श्रीलनरोत्तमनाथ श्रीगौराङ्गप्रभुं नौमि॥

अर्थात् इस श्लोकमें श्रीरामसे उनके गुरुदेव श्रीराधारमण, कृष्णसे परमगुरुदेव श्रीकृष्णचरण, गङ्गाचरणसे परात्पर गुरुदेव श्रीगङ्गानारायण, नरोत्तमसे परमपरात्पर गुरुदेव श्रीनरोत्तम ठाकुर और 'नाथ' शब्दसे श्रील नरोत्तम ठाकुरके गुरुदेव श्रीलोकनाथ गोस्वामीको समझना चाहिए। इस प्रकार श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर श्रीमन्महाप्रभु तक अपनी गुरुपरम्पराको प्रणाम कर रहे हैं, ऐसा सूचित होता है।

श्रीनिवासाचार्यकी कन्याका नाम हेमलता ठाकुरानी था। ये परमविदूषी तथा परम–वैष्णवी थीं। इन्होंने अपने रूपकविराज नामक एक उदासीन शिष्यको गौड़ीय–समाजसे बहिष्कृत कर दिया था। तबसे वे रूपकविराज गौड़ीय–वैष्णव–समाजमें

'अतिबाड़ी' नामसे परिचित हुए। उन्होंने गौड़ीय-वैष्णवोंके सिद्धान्तके विरुद्ध अपना एक नया मत स्थापन किया कि केवलमात्र त्यागी व्यक्ति ही आचार्यका कार्य कर सकता है। गृहस्थ व्यक्ति भक्तिका आचार्य नहीं हो सकता। विधिमार्गका सम्पूर्णरूपसे अनादर कर उच्छृंखलतापूर्ण रागमार्गका प्रचार करना ही इनका उद्देश्य था। श्रवणकीर्त्तनका त्यागकर केवल स्मरणके द्वारा ही रागानुगाभक्ति सम्भव है—ऐसा इनका नवीन मत था।

सौभाग्यवशतः श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर उस समय वर्त्तमान थे। उन्होंने श्रीमद्भागवतके तृतीय-स्कन्धकी सारार्थ-दर्शिनी टीकामें इसका प्रतिवाद किया। आचार्यवंशमें नित्यानन्द प्रभुके पुत्र वीरभद्र प्रभुके शिष्यवंशमें तथा अद्वैताचार्यके त्यक्त पुत्रोंके वंशमें गृहस्थ होकर गोस्वामी उपाधि प्रदान और ग्रहण करना उचित नहीं है—रूपकविराजके ऐसे विचारका श्रीचक्रवर्ती ठाकुरने प्रतिवाद किया। उन्होंने प्रमाणित किया कि आचार्यवंशके योग्य अधस्तन गृहस्थ सन्तानोंके द्वारा भी आचार्यका कार्य करना असङ्गत नहीं है। परन्तु वंश-परम्परा क्रमसे धन और शिष्यके लोभसे आचार्यकुलमें उत्पन्न अयोग्य सन्तानोंके लिए अपने नामके साथ 'गोस्वामी' शब्दका प्रयोग शाश्वत-शास्त्र विरोधी और नितान्त अवैध कार्य है—ऐसा भी प्रमाणित किया। इसलिए उन्होंने (श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने) आचार्यका कार्य करने पर भी अपने नामके साथ 'गोस्वामी' शब्दका प्रयोग कदापि नहीं किया। उन्होंने आधुनिक कालके विचारहीन अयोग्य आचार्य सन्तानोंको शिक्षा देनेके लिए ही ऐसा किया है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर जिस समय अत्यन्त वृद्ध हो गये थे तथा अधिकांश समय वे अर्द्धबाह्य और अन्तर्दशामें स्थित होकर भजनमें विभोर रहते थे, उसी समय जयपुरमें श्रीगौड़ीय-वैष्णवों तथा स्वकीयावादी अन्यान्य वैष्णवोंमें एक विवाद छिड़ गया। उस समय द्वितीय जयसिंह जयपुरके नरेश थे। विरुद्ध पक्षवाले वैष्णवोंने द्वितीय जयसिंहको यह समझाया कि श्रीगोविन्ददेवके साथ श्रीमती राधिकाजीकी पूजा शास्त्र-सम्मत नहीं है। इसका कारण यह है कि श्रीमद्भागवत या विष्णुपुराणमें श्रीमती राधिकाके नामका कहीं भी उल्लेख नहीं है। श्रीमती राधिका वैदिक विधियोंके अनुसार श्रीकृष्णकी विवाहित पत्नी नहीं हैं। दूसरी बात गौड़ीय-वैष्णव साम्प्रदायिक वैष्णव नहीं हैं। वैष्णव सम्प्रदाय चार ही हैं, जो अनादि कालसे चले आ रहे हैं। उनके नाम हैं—श्री-सम्प्रदाय, ब्रह्म-सम्प्रदाय, रुद्र-सम्प्रदाय और सनक-सम्प्रदाय। कलियुगमें इन सम्प्रदायोंके प्रधान आचार्य क्रमशः श्रीरामानुज, श्रीमध्व, श्रीविष्णुस्वामी और श्रीनिम्बादित्य हैं। गौड़ीय-वैष्णव इन चारों सम्प्रदायोंसे बहिर्भूत हैं, अतः वे शुद्ध साम्प्रदायिक वैष्णव नहीं हैं। विशेषतः इस वैष्णव-सम्प्रदायका अपना कोई ब्रह्मसूत्रका भाष्य नहीं है, अतएव इसे परम्परागत वैष्णव सम्प्रदाय नहीं माना जा सकता है। उसी समय महाराज जयसिंहने श्रीवृन्दावनके प्रधान गौड़ीय-वैष्णवाचार्योंको श्रील रूपगोस्वामीका अनुगत जानकर श्रीरामानुजीय वैष्णवोंके साथ विचार करनेके लिए आह्वान किया। अत्यन्त वृद्ध तथा भजनानन्दमें विभोर रहनेके कारण श्रीचक्रवर्ती ठाकुरने अपने छात्र गौड़ीय-वैष्णव-वेदान्ताचार्य, पण्डितकुलमुकुट महामहोपाध्याय

श्रीपाद बलदेव विद्याभूषण और अपने शिष्य श्रीकृष्णदेवको जयपुरमें विचार करनेके लिए भेजा।

जाति-गोस्वामीगण अपने मध्व-सम्प्रदायके आनुगत्यको भूल चुके थे। साथ ही उन्होंने वैष्णवोंके वेदान्त सम्बन्धी विचारधाराका अनादर कर गौड़ीय-वैष्णवोंके लिए एक महान विपत्तिका आह्वान किया था। श्रील बलदेव विद्याभूषणने अकाट्य युक्तियों और सुदृढ़ शास्त्रीय प्रमाणोंके द्वारा यह प्रमाणित किया कि गौड़ीय सम्प्रदाय मध्वानुगत शुद्ध वैष्णव-सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदायका नाम श्रीब्रह्म-माध्व-गौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदाय है। हमारे पूर्वाचार्य श्रील जीवगोस्वामी, कविकर्णपूर आदिने इसे स्वीकार किया है। श्रीगौड़ीय-वैष्णवजन श्रीमद्भागवतको ही वेदान्तसूत्रका अकृत्रिम भाष्य मानते हैं। इसलिए गौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदायमें स्वतन्त्ररूपसे वेदान्तसूत्रके किसी भाष्यकी रचना नहीं की गयी है। विभिन्न पुराणोंमें श्रीमती राधिकाके नामका उल्लेख है, वे ह्लादिनी स्वरूपा, श्रीकृष्णकी नित्यप्रिया हैं। श्रीमद्भागवतके विभिन्न स्थलोंमें विशेषतः दसवें स्कन्धकी ब्रजलीलाके वर्णन प्रसङ्गमें सर्वत्र ही श्रीमती राधिकाका अत्यन्त गूढ़रूपसे उल्लेख है। सिद्धान्तविद्, रसिक और भावुक भक्त ही इस गूढ़ रहस्यको समझ सकते हैं। श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुने उस विद्वत्सभामें प्रतिपक्षके सभी तर्कोंको खण्ड-विखण्डकर तथा सन्देहोंको दूरकर श्रीगौड़ीय-वैष्णवोंका मध्वानुगत्य प्रमणित किया। विपक्ष निरुत्तर हो गया, फिर भी उन्होंने श्रीगौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदायका कोई वेदान्त भाष्य न होने पर उन्हें शुद्ध पारम्परिक वैष्णव माननेसे अस्वीकार कर दिया। तब वहीं पर ही श्रीबलदेव

विद्याभूषण प्रभुने ब्रह्मसूत्रके 'श्रीगोविन्द-भाष्य' नामक सुप्रसिद्ध गौड़ीय-भाष्यकी रचना की। इस प्रकारसे श्रीगोविन्ददेवके मन्दिरमें पुनः श्रीश्रीराधागोविन्दकी सेवापूजा प्रारम्भ हुई तथा गौड़ीय-वैष्णवोंकी श्रीब्रह्म-माध्व-गौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदायके रूपमें मान्यता स्वीकार की गयी। श्रीचक्रवर्ती ठाकुरके सम्मति क्रमसे ही श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुने श्रीगोविन्द-भाष्यकी रचना की तथा गौड़ीय-वैष्णवोंका श्रीमध्वानुगत्य प्रमाणित किया—इस विषयमें तनिक भी सन्देहका अवकाश नहीं है। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरका यह साम्प्रदायिक कार्य गौड़ीय-वैष्णवोंके इतिहासमें स्वर्णाक्षरसे लिपिबद्ध रहेगा।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने स्वरचित 'मन्त्रार्थदीपिका'में एक विशेष घटनाका वर्णन किया है—किसी समय उन्होंने श्रीचैतन्यचरितामृतका पठन-पाठन करते हुए कामगायत्रीके अर्थसे सम्बन्धित निम्नलिखित पयारों पर विचार किया—

कामगायत्री-मन्त्ररूप, हय कृष्णेर स्वरूप,
सार्द्ध-चब्बिश अक्षर तार हय।
से अक्षर 'चन्द्र' हय, कृष्णे करि' उदय,
त्रिजगत् कैला काममय॥

(चै॰च॰म॰ २१/१२५)

अर्थात् कामगायत्री श्रीकृष्णका स्वरूप है। इस मन्त्रराजमें साढ़े चौबीस अक्षर हैं तथा इस मन्त्रका प्रत्येक अक्षर पूर्ण चन्द्र है। ये चन्द्रसमूह कृष्णको उदित कराकर त्रिजगतको प्रेममय बना देते हैं।

इन पद्योंके प्रमाणसे काम-गायत्रीमें साढ़े चौबीस अक्षर हैं, किन्तु कामगायत्रीमें कौनसा अर्द्धाक्षर है, बहुत चिन्ता

करने पर भी श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती इसे न समझ सके। व्याकरण, पुराण, तन्त्र, नाट्य तथा अलङ्कार आदि शास्त्रोंमें विशेषरूपसे छानबीन करने पर भी उन्हें कहीं भी अर्द्धाक्षरका उल्लेख प्राप्त नहीं हुआ। उन सभी शास्त्रोंके अनुसार स्वर और व्यंजनके भेदसे उन्हें पचास अक्षरोंका ही उल्लेख मिला, किन्तु कहीं भी अर्द्धाक्षरका कोई प्रमाण नहीं मिला। श्रील जीवगोस्वामी द्वारा रचित श्रीहरिनामामृत व्याकरणके संज्ञापादमें स्वर व्यंजनके प्रसङ्गमें पचास अक्षरोंका ही उल्लेख देखा। मातृकान्यास आदिमें भी मातृका रूपके ध्यानमें कहीं भी उन्हें अर्द्धाक्षरका उल्लेख नहीं मिला। बृहन्नारदीय पुराणमें राधिकाके सहस्र-नाम-स्तोत्रमें वृन्दावनेश्वरी श्रीमती राधिकाजीको पचास वर्णरूपिणी कहा गया है। उसे देखकर श्रील चक्रवर्ती ठाकुरका सन्देह और भी बढ़ गया, उन्होंने सोचा कि क्या श्रील कविराज गोस्वामीने भ्रमवशतः ऐसा लिखा है? किन्तु उनमें भ्रम होनेकी सम्भावना नहीं है, क्योंकि वे भ्रम-प्रमादादि दोषोंसे सर्वथा रहित सर्वज्ञ हैं। यदि उक्त मन्त्रमें खण्ड 'त्'को अर्द्धाक्षर मानते हैं तो श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी क्रमभङ्गके दोषसे दोषी ठहरते हैं, क्योंकि उन्होंने ऐसा वर्णन किया है—

सखि हे, कृष्णमुख—द्विजराज-राज।
कृष्णवपु-सिंहासने, वसि' राज्य शासने,
करे सङ्गे चन्द्रेर समाज॥

दुइ गण्ड सुचिक्कण, जिनि' मणि-सुदर्पण,
सेइ दुइ पूर्णचन्द्र जानि।

ललाटे अष्टमी–इन्दु, ताहाते चन्दन–बिन्दु,
सेइ एक पूर्णचन्द्र मानि॥

करनख–चान्देर हाट, वंशी–उपर करे नाट,
तार गीत मुरलीर तान।
पदनख–चन्द्रगण, तले करे नर्त्तन,
नूपुरेर ध्वनि यार गान॥

(चै॰च॰म॰ २१/१२६–१२८)

श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीने उक्त पंक्तियोंमें श्रीकृष्णचन्द्रके मुखको पहला एक चन्द्र बतलाया है, तत्पश्चात् उनके दोनों गालोंको एक–एक पूर्णचन्द्र माना है, ललाटके ऊपरी भागमें चन्दनबिन्दुको चौथा पूर्णचन्द्र माना है तथा चन्दनबिन्दुके नीचे ललाट प्रदेशको अष्टमीका चन्द्र अर्थात् अर्द्धचन्द्र बतलाया है। इस वर्णनके अनुसार पञ्चम अक्षर ही अर्द्धाक्षर होता है, किन्तु खण्ड 'त्'को अर्द्धाक्षर माननेसे अन्तिम अक्षर ही अर्द्धाक्षर होता है, पञ्चम अक्षर अर्द्धाक्षर नहीं हो पाता। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर अर्द्धाक्षरका निर्णय न कर पानेके कारण बड़ी द्विविधामें फँस गये। उन्होंने विचार किया यदि मन्त्राक्षरकी स्फूर्ति न हो, तो मन्त्रदेवताकी स्फूर्ति होना असम्भव है, अतएव उपास्य देवताका दर्शन न होनेसे मर जाना ही अच्छा है। ऐसा सोचकर वे देह–त्याग करनेकी अभिलाषासे रातमें राधाकुण्डके तट पर उपस्थित हुए। रात्रिका द्वितीय प्रहर व्यतीत होने पर अकस्मात् तन्द्राकी स्थितिमें उन्होंने श्रीवृषभानुनन्दिनीका दर्शन किया। श्रीराधाजीने बड़े स्नेहसे कहा—"हे विश्वनाथ! हे हरिवल्लभ! खेद मत करो, श्रीकृष्णदास कविराजने जो कुछ लिखा है, वह परम

सत्य है। मेरे अनुग्रहसे वे मेरे अन्तःकरणकी सभी भावनाओंको जानते हैं। उनके वचनोंमें तनिक भी सन्देह मत करना। काम-गायत्री मेरी और मेरे प्राणवल्लभकी उपासनाका मन्त्र है। हमलोग मन्त्राक्षरके द्वारा भक्तोंके निकट प्रकाशित होते हैं। मेरे अनुग्रहके बिना हम दोनोंको कोई भी जाननेमें समर्थ नहीं है। 'वर्णागम-भास्वत्' नामक ग्रन्थमें अर्द्धाक्षरका निरूपण किया गया है, उसे देखकर ही श्रील कृष्णदास कविराजने काम-गायत्रीका स्वरूप-निर्णय किया है। तुम इसे देखकर श्रद्धालुओंके उपकारके लिए प्रकाशित करो।"

स्वयं वृषभानुनन्दिनी श्रीमती राधिकाके इस आदेशका श्रवणकर श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर जग उठे और 'हा राधे! हा राधे!' कहकर विलाप करने लगे। फिर धैर्य धारणकर उनकी आज्ञा पालनमें तत्पर हो गये। श्रीमती राधिकाने अर्द्धाक्षर निर्णय करनेके विषयमें जो इंगित दिया था, उसके अनुसार उक्त मन्त्रमें 'वि'के पूर्व जो 'य' है, वही अर्द्धाक्षर है। उसके अलावा अन्य सभी अक्षर पूर्णाक्षर या पूर्णचन्द्र हैं।

श्रीमती राधिकाजीकी कृपासे मन्त्रका अर्थ अवगत होकर श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने अपने इष्टदेवका साक्षाद् दर्शन किया तथा सिद्धदेहके द्वारा नित्यलीलामें परिकरत्व प्राप्त किया। इसके पश्चात् उन्होंने राधाकुण्डके तट पर श्रीगोकुलानन्द नामक श्रीविग्रहकी प्रतिष्ठाकी तथा वहीं रहते समय श्रीवृन्दावनकी नित्यलीलाओंका माधुर्य अनुभवकर श्रील कविकर्णपूर द्वारा रचित श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूकी सुखवर्त्तिनी नामक टीकाकी रचना की।

राधापरस्तीरकुटीरवर्त्तिनः प्राप्तव्यवृन्दावन चक्रवर्त्तिनः।
आनन्दचम्पू विवृतिप्रवर्त्तिनः सान्तो–गतिर्म्मे सुमहानिवर्त्तिनः॥

अपनी परिणत वयस (वृद्धावस्था)में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर अन्तर्दशा और अर्द्धबाह्य दशामें रहकर भजन करनेमें ही अपना अधिकांश समय व्यतीत करने लगे। उनके प्रधान शिष्य श्रीबलदेव विद्याभूषण ही उनके स्थान पर शास्त्र–अध्यापनका कार्य करने लगे।

परकीयावादकी पुनर्स्थापना

श्रीधाम वृन्दावनमें षड्गोस्वामियोंका प्रभाव किञ्चित् क्षीण होने पर स्वकीया और परकीयावादका मतभेद उठ खड़ा हुआ। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने स्वकीयावादके भ्रमको दूर करनेके लिए सुसिद्धान्तपूर्ण 'रागवर्त्मचन्द्रिका' तथा 'गोपीप्रेमामृत' नामक ग्रन्थोंकी रचनाएँ कीं। तत्पश्चात् उन्होंने उज्ज्वलनीलमणिके 'लघुत्वमत्र' (१/२१) श्लोककी आनन्दचन्द्रिका टीकामें शास्त्रीय प्रमाणों और अकाट्य युक्तियोंके द्वारा स्वकीयावादका खण्डन कर परकीया विचारकी स्थापना की है। श्रीमद्भागवतकी सारार्थदर्शिनी टीकामें भी उन्होंने परकीया भावकी पुष्टि की है।

ऐसा कहा जाता है कि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तीके समय कुछ पण्डितोंने परकीया उपासनाके विषयमें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरका विरोध किया था, किन्तु श्रील चक्रवर्ती ठाकुरने अपनी प्रगाढ़ विद्वता तथा अकाट्य युक्तियोंके द्वारा उन्हें परास्त कर दिया। तब ईर्ष्यावशतः पण्डितोंने उन्हें जानसे मारनेका संकल्प किया। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर प्रतिदिन प्रातःकाल श्रीवृन्दावन

धामकी परिक्रमा करते थे। उन्होंने प्रभातकालीन अन्धकारमें श्रीधाम वृन्दावनकी परिक्रमा करते समय श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरको किसी सघन अन्धकारपूर्ण कुञ्जमें जानसे मार डालनेकी योजना बनायी। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरके परिक्रमा करते-करते उक्त सघन कुञ्जके समीप पहुँचने पर वहाँ विरोधियोंने श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरको मारना चाहा, किन्तु अकस्मात् देखा कि वे वहाँ नहीं थे। अपितु उनके स्थान पर एक सुन्दर व्रजबालिका अपनी दो-तीन सहेलियोंके साथ पुष्पचयन कर रही थी। ऐसा देखकर पण्डितोंने उस बालिकासे पूछा—"लाली! अभी-अभी एक महात्मा इधर आ रहे थे, वे किधर गये? क्या तुमने उनको देखा है?" बालिकाने उत्तर दिया—"देखा तो था, परन्तु किस ओर गये मुझे मालूम नहीं।" बालिकाके अद्भुत रूप-सौन्दर्य, कटाक्ष, भावभङ्गी और मन्द-मुस्कानको देखकर पण्डित समाज मुग्ध हो गया। उनके मनका सारा कल्मष दूर हो गया और उनका हृदय द्रवित हो गया। पण्डितोंके द्वारा परिचय पूछे जाने पर बालिकाने कहा, "मैं स्वामिनी श्रीमती राधिकाकी सहचरी हूँ। वे इस समय अपने ससुराल यावटमें विराजमान हैं। उन्होंने मुझे पुष्पचयन करनेके लिए भेजा है।" ऐसा कहते-कहते वे अन्तर्धान हो गयीं और फिर पण्डितोंने उस बालिकाके स्थान पर पुनः श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरको देखा। पण्डितोंने श्रील चक्रवर्ती ठाकुरके चरणोंमें गिरकर क्षमा प्रार्थना की तथा श्रील चक्रवर्ती ठाकुरने उन्हें क्षमा कर दिया। श्रील चक्रवर्ती ठाकुरके जीवनमें ऐसी बहुतसी आश्चर्यपूर्ण घटनाएँ सुनी जाती हैं। इस प्रकार इन्होंने स्वकीयावादका खण्डनकर शुद्ध

परकीया विचारकी स्थापना की। इनका यह कार्य गौड़ीय-वैष्णवोंके लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने जिस प्रकारसे श्रीगौड़ीय-वैष्णव धर्मकी मर्यादाकी रक्षा कर पुनः श्रीवृन्दावनमें श्रीगौड़ीय-वैष्णव धर्मका प्रभाव स्थापित किया है, उसका विवेचन करनेसे उनकी अलौकिक प्रतिभासे विस्मित होना पड़ता है। उनके इस असाधारण कार्यके लिए श्रीगौड़ीय-वैष्णवाचार्योंने एक श्लोक लिखा है—

विश्वस्य नाथरूपोऽसौ भक्तिवर्त्म प्रदर्शनात्।
भक्तचक्रे वर्त्तितत्त्वात् चक्रवर्त्याख्ययाभवत्॥

अर्थात् भक्तिपथके प्रदर्शक होनेके कारण वे विश्वके नाथ अर्थात् विश्वनाथ हैं तथा शुद्धभक्तचक्र (भक्तमण्डली)में सदा अवस्थित रहनेके कारण चक्रवर्ती हैं, अतएव उनका नाम विश्वनाथ चक्रवर्ती हुआ है।

वे लगभग १६७६ शकाब्दमें लगभग एक सौ वर्षकी आयुमें माघी शुक्ला पञ्चमी तिथिको अपनी अन्तर्दशाकी अवस्थामें श्रीवृन्दावनमें अप्रकट हुए। आज भी श्रीधामवृन्दावनमें श्रीगोकुलानन्द मन्दिरके निकट उनकी समाधि विराजमान है।

इन्होंने श्रील रूपगोस्वामीका पदाङ्क अनुसरण कर विपुल अप्राकृत भक्ति साहित्यका सृजनकर विश्वमें श्रीमन्महाप्रभुके मनोऽभीष्टको स्थापन किया है। साथ ही इन्होंने श्रीरूपानुग विरुद्ध कुसिद्धान्तोंका खण्डन भी किया है। इस प्रकार गौड़ीय-वैष्णव जगतमें ये परमोज्ज्वल आचार्य तथा प्रामाणिक महाजनके रूपमें ही प्रपूजित हुए हैं। ये अप्राकृत महादार्शनिक, अप्राकृत कवि और अप्राकृत रसिकभक्त तीनों रूपोंमें ही

विख्यात हैं। कृष्णदास नामक एक वैष्णव पदकर्त्ताने श्रील चक्रवर्ती ठाकुर द्वारा रचित माधुर्यकादम्बिनीके पद्यानुवादके उपसंहारमें लिखा है—

माधुर्यकादम्बिनी—ग्रन्थ जगत कैल धन्य
चक्रवर्ती—मुखे वक्ता आपनि श्रीकृष्णचैतन्य।
केह कहेन—चक्रवर्ती श्रीरूपेर अवतार।
कठिन ये तत्त्व सरल करिते प्रचार॥
ओहे गुणनिधि श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती।
कि जानिव तोमार गुण मुञि मूढ़मति॥

अर्थात् श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने 'माधुर्यकादम्बिनी' ग्रन्थकी रचना कर समग्र जगतको धन्य कर दिया। वास्तवमें श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु ही इस ग्रन्थके वक्ता हैं, वे ही श्रील चक्रवर्तीके मुखसे बोल रहे हैं। कुछ लोगोंका कहना है श्रील चक्रवर्ती ठाकुर श्रील रूप गोस्वामीके अवतार हैं। वे अत्यन्त सुकठिन तत्त्वोंको सहज सरल रूपमें वर्णन करनेकी कलामें परम प्रवीण हैं। अहो! दयाके सागर श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर! मैं अत्यन्त मूढ़ व्यक्ति हूँ। आप कृपा कर इन अप्राकृत गुणोंको मेरे हृदयमें स्फूर्ति करायें—आपके श्रीचरणोंमें ऐसी प्रार्थना है।

गौड़ीय-वैष्णवाचार्योंमें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरकी भाँति अनेकानेक ग्रन्थोंके लेखक बहुत कम ही आविर्भूत हुए हैं। अभी भी साधारण वैष्णव समाजमें श्रील चक्रवर्ती ठाकुरके तीन ग्रन्थोंके सम्बन्धमें एक प्रवाद सुप्रचलित है— 'किरण-बिन्दु-कणा, एइ तीन निये वैष्णवपना।'

इन्होंने गौड़ीय-वैष्णव भक्ति-साहित्य-भण्डारकी अतुल-सम्पद्-स्वरूप जिन ग्रन्थों, टीकाओं और स्तवों आदिकी रचनाएँ की हैं, नीचे उनकी तालिका प्रस्तुत की जा रही है—

(१) व्रजरीतिचिन्तामणि, (२) श्रीचमत्कारचन्द्रिका, (३) श्रीप्रेमसम्पुटः (खण्डकाव्यम्), (४) गीतावली, (५) सुबोधिनी (अलङ्कार-कौस्तुभ टीका), (६) आनन्दचन्द्रिका (उज्ज्वलनीलमणि टीका), (७) श्रीगोपाल-तापनी टीका, (८) स्तवामृतलहरी धृत—(क) श्रीगुरुतत्त्वाष्टकम्, (ख) मन्त्रदातृ-गुरोरष्टकम्, (ग) परमगुरोरष्टकम्, (घ) परात्पर-गुरोरष्टकम्, (ङ) परमपरात्पर गुरोरष्टकम्, (च) श्रीलोकनाथाष्टकम्, (छ) श्रीशचीनन्दनाष्टकम्, (ज) श्रीस्वरूप-चरितामृतम्, (झ) श्रीस्वप्नविलासामृतम्, (ञ) श्रीगोपालदेवाष्टकम्, (ट) श्रीमदनमोहनाष्टकम्, (ठ) श्रीगोविन्दाष्टकम्, (ड) श्रीगोपीनाथाष्टकम्, (ढ) श्रीगोकुलानन्दाष्टकम्, (ण) स्वयं-भगवत्ताष्टकम्, (त) श्रीराधाकुण्डाष्टकम्, (थ) जगन्मोहनाष्टकम्, (द) अनुरागवल्ली, (ध) श्रीवृन्दादेव्याष्टकम्, (न) श्रीराधिका-ध्यानामृतम्, (प) श्रीरूपचिन्तामणिः, (फ) श्रीनन्दीश्वराष्टकम्, (ब) श्रीवृन्दावनाष्टकम्, (भ) श्रीगोवर्धनाष्टकम्, (म) श्रीसंकल्प-कल्पद्रुमः, (य) श्रीनिकुञ्जकेलिविरुदावली (विरुत्काव्य), (र) सुरतकथामृतम् (आर्यशतकम्), (ल) श्रीश्यामकुण्डाष्टकम्। (९) श्रीकृष्ण-भावनामृतम् महाकाव्यम्, (१०) श्रीभागवतामृत-कणा, (११) श्रीउज्ज्वल-नीलमणि-किरणः, (१२) श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु-बिन्दुः, (१३) रागवर्त्म-चन्द्रिका, (१४) ऐश्वर्यकादम्बिनी (अप्राप्या), (१५) श्रीमाधुर्यकादम्बिनी, (१६) श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु टीका, (१७) श्रीआनन्दवृन्दावन-चम्पूः

टीका, (१८) दानकेलिकौमुदी टीका, (१९) श्रीललितमाधव नाटक टीका, (२०) श्रीचैतन्यचरितामृत टीका (असम्पूर्ण), (२१) ब्रह्मसंहिता टीका, (२२) श्रीमद्भगवद्गीताकी 'सारार्थवर्षिणी' टीका, (२३) श्रीमद्भागवतकी 'सारार्थदर्शिनी' टीका।

श्रीगौड़ीय-सम्प्रदायैक-संरक्षक, श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति तथा समितिके अन्तर्गत श्रीगौड़ीयमठोंके प्रतिष्ठाता आचार्य-केशरी मदीय परमाराध्य श्रीगुरुदेव अष्टोत्तरशत श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजने स्वरचित ग्रन्थोंके अतिरिक्त श्रील भक्तिविनोद ठाकुर आदि पूर्वाचार्योंके ग्रन्थोंका बंगला भाषामें पुनः प्रकाशन किया है। उनकी हार्दिक अभिलाषा, उत्साहदान और अहैतुकी कृपासे आज राष्ट्रीय भाषा हिन्दीमें जैवधर्म, श्रीचैतन्य-शिक्षामृत, श्रीचैतन्यमहाप्रभुकी शिक्षा, श्रीशिक्षाष्टक आदि ग्रन्थोंके हिन्दी-संस्करण प्रकाशित हुए हैं तथा क्रमशः प्रकाशित हो रहे हैं।

श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके वर्त्तमान सभापति एवं आचार्य मेरे परमपूज्य सतीर्थवर परिव्राजकाचार्यवर्य श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन महाराज एक परम पराविद्यानुरागी एवं श्रीगुरुपादपद्मके अन्तरङ्ग प्रिय सेवक हैं। वे मेरे प्रति अनुग्रहपूर्वक श्रीश्रीलगुरुदेवके श्रीकरकमलोंमें उनके इस प्रिय 'श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु-बिन्दु' ग्रन्थको समर्पण कर उनका मनोऽभीष्ट पूर्ण करें—यही उनके श्रीचरणोंमें विनीत प्रार्थना है।

इन ग्रन्थकी प्रतिलिपि प्रस्तुत करने प्रुफ-संशोधन आदि विविध सेवाकार्योंके लिए श्रीओमप्रकाश व्रजवासी साहित्यरत्न, श्रीमान् शुभानन्द ब्रह्मचारी, श्रीमान् प्रेमानन्द ब्रह्मचारी, श्रीमान् नवीनकृष्ण ब्रह्मचारी, श्रीमान् सूर्यकान्त ब्रह्मचारी और श्रीमान् अनङ्गमोहन ब्रह्मचारी आदि तथा आर्थिक सेवानुकूल्यके लिए

श्रीमान् विनोदबिहारी दासाधिकारी और श्रीमान् सोमनाथ दासाधिकारीकी सेवा-प्रचेष्टा सराहनीय एवं विशेष उल्लेखनीय है। श्रीश्रीगुरुगौराङ्ग-गान्धर्विका-गिरिधारी इन पर प्रचुर कृपा आशीर्वाद करें, उनके चरणोंमें यही प्रार्थना है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि भक्ति-पिपासु, विशेषतः ब्रजरसके प्रति लुब्ध रागानुगाभक्तिके साधकजनोंमें इस ग्रन्थका समादर होगा और श्रद्धालुजन इस ग्रन्थका पाठकर श्रीचैतन्यमहाप्रभुके प्रेमधनमें प्रवेशाधिकार प्राप्त करेंगे।

अन्तमें भगवत्करुणाके घनविग्रह परमाराध्य श्रीगुरुपादपद्म मेरे प्रति प्रचुर कृपावारि वर्षण करें, जिससे मैं उनकी मनोऽभीष्ट सेवामें अधिकाधिक अधिकार प्राप्त कर सकूँ—यही उनके श्रीकृष्णप्रेम प्रदानकारी श्रीचरणोंमें सकातर प्रार्थना है। अलमतिविस्तरेण।

अक्षय तृतीया श्रीहरि-गुरु-वैष्णव कृपालेशप्रार्थी
५०७ गौराब्द दीनहीन
(१११५ भारतीयाब्द) **त्रिदण्डिभिक्षु श्रीभक्तिवेदान्त नारायण**
२५ अप्रैल, १९९३ ई०

द्वितीय संस्करणका सम्पादकीय वक्तव्य

'श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु–बिन्दु' ग्रन्थ भजनानन्दी गौड़ीय–वैष्णवोंके जीवन–स्वरूप है। श्रील गुरुपादपद्मकी प्रेरणासे यह ग्रन्थ पुनः मुद्रित हुआ। श्रीमन् महाप्रभुके अनुगत गौड़ीय वैष्णव–समाजमें इस ग्रन्थसे सभी सुपरिचित हैं। इस ग्रन्थका विस्तृत परिचय देना नितान्त अनावश्यक समझता हूँ।

ऐसे ग्रन्थोंके अत्याधिक प्रचारसे शुद्ध भक्ति–विरोधी केवल वैष्णव–वेशधारी व्यक्तियोंके विचारोंके बादल सम्पूर्ण रूपसे छट जायेंगे, इसमें सन्देह नहीं है। रागानुगाभक्तिके साधकजनोंके लिए अमावस्याके घने अन्धकारमें अग्रसर होनेके लिए यह ग्रन्थ ध्रुवताराके समान परमावश्यक है।

अतः यह ग्रन्थ भक्तिमें प्रीति रखनेवाले सभी जनोंको सुख प्रदान करनेवाला बन जाये, यही मेरी हार्दिक अभिलाषा है।

प्रस्तुत संस्करणकी प्रतिलिपि प्रस्तुत करने, प्रूफ संशोधन आदि विविध सेवा कार्योंके लिए श्रीमान् ओमप्रकाश व्रजवासी एम॰ए॰, एल–एल॰बी, साहित्यरत्न, श्रीमान् कृष्णकृपा ब्रह्मचारी, श्रीमती मालती प्रिया दासी, श्रीमती शान्ति दासीकी सेवा चेष्टा अत्यन्त प्रंशसनीय है। श्रीश्रीगुरु–गौराङ्ग–गान्धर्विका–गिरिधारी इन सब पर प्रचुर कृपा वर्षण करें—यही उनके श्रीचरणोंमें सकातर प्रार्थना है।

श्रीपुत्रदा एकादशी
श्रीगौराब्द ५१९

श्रीहरि–गुरु–वैष्णव कृपालेशप्रार्थी
दीनहीन
त्रिदण्डिभिक्षु श्रीभक्तिवेदानत नारायण

श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु-बिन्दु

मङ्गलाचरणम्

अखिलरसामृत-मूर्त्तिः प्रसृमर-रुचिरुद्ध-तारकापालिः।
कलित-श्यामाललितो राधाप्रेयान् विधुर्जयति॥

निखिल भक्तजनोंके परम हितकारी श्रीश्रीरूप गोस्वामीने अपने हृदयरूपी दिव्य कमलकोषसे प्रकटित श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु नामक अपूर्व ग्रन्थके उक्त श्लोकमें मङ्गलाचरण किया है। श्रीश्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर द्वारा रचित इस भक्तिरसामृतसिन्धु-बिन्दु नामक ग्रन्थका आरम्भ भी श्रील रूप गोस्वामीकृत उक्त मङ्गलाचरण श्लोकसे किया जा रहा है। इसका भावार्थ है—

शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—मुख्यरस एवं हास्य, अद्भुत, करुण, रौद्र, भयानक, वीर और वीभत्स—गौणरस, इन द्वादश रसोंसे विशिष्ट परमानन्द-स्वरूप जिनका श्रीविग्रह है, अपने अङ्गोंकी चतुर्दिक छिटकती हुई कान्तिके द्वारा जिन्होंने तारका (विपक्षा) और पालि (तटस्थपक्षा) नामक यूथेश्वरियोंको वशीभूत कर लिया है, जिन्होंने श्यामला (सुहृतपक्षा) और ललिता (स्वपक्षा)को आत्मसात् कर रखा है तथा जो सर्वयूथेश्वरी महाभाव-स्वरूपा श्रीमती राधिकाजीका प्रीतिविधान करनेमें सदा-सर्वदा तत्पर रहते हैं, वे विभु अर्थात् श्रीकृष्णचन्द्र सब प्रकारके उत्कर्षसे युक्त होकर विराजमान हो रहे हैं।

(श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुके मङ्गलाचरणका श्लोक)

उत्तमाभक्ति

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

अस्यार्थः—अन्याभिलाष ज्ञानकर्मादिरहिता श्रीकृष्णमुद्दिश्यानुकूल्येन कायवाङ्मनोभिर्यावती क्रिया सा भक्तिः॥१॥

अथ तस्या लक्षणं वदन्नेव ग्रन्थमारभते अन्येति। यथा क्रिया-शब्देन धात्वर्थमात्रमुच्यते, तथात्र अनुशीलनशब्देनापि धात्वर्थमात्रमुच्यते। धात्वर्थश्च द्विविधः—प्रवृत्ति-निवृत्त्यात्मकः। तत्र प्रवृत्त्यात्मको धात्वर्थस्तु काय-वांमानसमयस्तच्चेष्टारूपः। निवृत्त्यात्मकधात्वर्थश्च प्रवृत्तिभिन्नः। सेवा-नामापराधानामुद्भवाभाव-कारितेत्यादिवचनव्यञ्जितः सेवा-नामापराधाद्यभाव-रूपश्च। स च वक्ष्यमाणरतिप्रेमादिस्थायिभावरूपश्च। तदेवं सति कृष्णसम्बन्धि कृष्णार्थं वा अनुशीलनमिति। तत्सम्बन्धमात्रस्य तदर्थस्य वा विवक्षितत्वाद् गुरुपादाश्रयादौ, भावरूपस्यापि क्रोड़ीकृतत्वाद् रत्यादिस्थायिनि व्याभिचारिषु च नाव्याप्तिः। एतच्च कृष्ण-तद्भक्तकृपयैकलभ्यं श्रीभगवतः स्वरूपशक्तिवृत्तिरूपमपि कायादिवृत्तितादात्म्येनाविर्भूतमिति ज्ञेयम्। अग्रे तु स्पष्टीकरिष्यते। कृष्णशब्दश्चात्र स्वयंभगवतः कृष्णस्य तद्रुपाणां चान्येषामवताराणां ग्राहकः। तारतम्यमग्रे विवेचनीयं। तत्र भक्तिस्वरूपतासिद्ध्यर्थं विशेषणमाह—आनुकूल्येनेति। प्रातिकूल्ये भक्तित्वाप्रसिद्धेः। आनुकूल्यञ्च उद्देश्याय श्रीकृष्णाय रोचमाना प्रवृत्तिरित्युक्ते लक्षणे अतिव्याप्तिरव्याप्तिश्च। तद् यथा—असुरकर्त्तृक प्रहाररूपानुशीलनं युद्धरसः उत्साहरतिः श्रीकृष्णाय रोचते। यथोक्तं प्रथमस्कन्धे—मनस्विनामिव सन् संप्रहार इति। तथा श्रीकृष्णं विहाय दुग्धरक्षार्थं गतायाः यशोदायास्तादृशानुशीलनं श्रीकृष्णाय न रोचते। यथोक्तं श्रीदशमे—स जातकोपः स्फुरितारुणाधरमिति। तथाच तत्र तत्र अतिव्याप्तेरव्याप्तेश्च वारणाय आनुकूल्यानां प्रतिकूलशून्यत्वमेव

विवक्षणीयम्। एवं सति असुरे द्वेषरूप–प्राप्तिकूल्यसत्त्वान्नातिव्याप्तिः। एवं यशोदायाः प्रातिकूल्याभावान्नाव्याप्तिरिति बोध्यम्। एतेन विशेषणस्यानुकूल्यस्यैव भक्तित्वमस्तु। भक्तिसामान्यस्यैव कृष्णाय रोचमानत्वाद्विशेष्यस्य अनुशीलनपदस्य वैयर्थ्यमित्यपि शंका निरस्ता। तादृश प्रातिकूल्याभावमात्रस्य घटेऽपि सत्त्वात्। उत्तमत्वसिद्धयर्थं विशेषणद्वयमाह—अन्याभिलाषिता शून्यमित्यादी। कथम्भूतमनुशीलनम्? अन्यस्मिन् भक्त्यादिरिक्ते फलत्वेनाभिलाषशून्यं। भक्तया सञ्जातया भक्तया इत्येकादशोक्तेर्भक्तयुद्देशकभक्तिकरणमुचितमेवेत्यतो भक्तयातिरिक्त इति। यथात्रान्याभिलाषशून्यं विहाय अन्याभिलाषिताशून्यमिति स्वभावार्थ–कताच्छील्यप्रत्ययेन कस्यचिद्भक्तस्य कदाचिच्छङ्कटे प्राप्ते—हे भगवन् भक्तं मामेतद्विपत्ते सकाशात् रक्षेति कादाचित्काभिलाषसत्त्वेऽपि न क्षतिः। यतस्तस्य वैवश्यहेतुक–स्वभाव–विपर्य्ययेणैव तादृशाभिलाषो नतु स्वाभाविक इति बोध्यं। पुनः कीदृशं ज्ञानमत्र निर्भेदब्रह्मानुसन्धानं नतु भजनीयत्वेनानुसंधानमपि तस्य अवश्यापेक्षणीयत्वात्। कर्म—स्मार्त्तं नित्यनैमित्तिकादि नतु भजनीयपरिचर्यादि तस्य तदनुशीलनरूपत्वात्। आदिशब्देन फल्गुवैराग्ययोग–सांख्याभ्यासादयस्तैरनावृतं नतु शून्यमित्यर्थः। तेन च भक्त्यावरकानामेव ज्ञानकर्मादीनां निषेधोऽभिप्रेतः। भक्त्यावरकत्वं नाम विधिशासनान्नित्यकर्माकरणे प्रत्यवायादिभयात् श्रद्धया क्रियमाणत्वं तथा भक्त्यादिरूपेष्ट–साधनत्वात् श्रद्धया क्रियमाणत्वञ्च। तेन लोकसंग्रहार्थमश्रद्धया पित्रादिश्राद्धाङ्गं कूर्वतां महानुभवानां शुद्धभक्तौ नाव्याप्तिः। अत्र श्रीकृष्णानुशीलनं कृष्णभक्तिरिति वक्तव्ये भगवच्छास्त्रेषु केवलस्य भक्तिशब्दस्य तत्रैव विश्रान्तिरित्यभिप्रायात्तथोक्तम्॥१॥

उत्तमाभक्ति

श्रीकृष्णको सुखी करनेकी स्पृहाके अतिरिक्त समस्त प्रकारकी अभिलाषाओंसे रहित, ज्ञानकर्मादिके द्वारा अनावृत्त, एकमात्र श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिए ही कायिक, मानसिक और

वाचिक समस्त चेष्टाओं और भावके द्वारा तैल-धारावत् अविच्छिन्न गतिसे जो कृष्णका अनुशीलन अर्थात् श्रीकृष्णकी सेवा की जाती है, उसे (उन समस्त चेष्टाओंको) उत्तमा भक्ति कहते हैं॥१॥

श्रीबिन्दु-विकाशिनी-वृत्ति—

नमः ॐ विष्णुपादाय गौरप्रेष्ठाय भूतले।
श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी इति नामिने॥
अतिमर्त्य चरित्राय स्वाश्रितानाञ्च पालिने।
जीवदुःखे सदार्त्ताय श्रीनाम-प्रेम दायिने॥
विश्वस्य नाथरूपोऽसौ भक्तिवर्त्मप्रदर्शनात्।
भक्तचक्रे वर्त्तितत्वात् चक्रवर्त्त्याख्ययाभवत्॥
श्रीचैतन्य मनोऽभीष्टं स्थापितं येन भूतले।
स्वयं रूपः कदा मह्यं ददाति स्वपदान्तिकम्॥
वाञ्छा कल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च।
पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः॥
नमो महावदान्याय कृष्णप्रेम प्रदाय ते।
कृष्णाय कृष्ण-चैतन्य-नाम्ने गौरत्त्विषे नमः॥

सर्वप्रथम नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी गुरुवर, श्रीगौर-परिकर श्रीरूप गोस्वामी, श्रीरूपानुग गुरुवर्ग एवं श्रीश्रीगौराङ्ग-गान्धर्विका-गिरिधारी श्रीश्रीराधाविनोदबिहारी—इन सभीके चरणकमलोंमें पुनः-पुनः प्रणामपूर्वक उनकी अहैतुक कृपाशीर्वाद प्रार्थना करते हुए श्रीरूपानुगवर महामहोपाध्याय श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर द्वारा विरचित 'श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु-बिन्दु' ग्रन्थका 'श्रीबिन्दु-विकाशिनी-वृत्ति' नामक भावानुवाद यह दीन-हीन-जन आरम्भ कर रहा है।

अनन्तर उत्तमाभक्तिके लक्षण बतलाते हुए ग्रन्थारम्भ कर रहे हैं। जिस प्रकार क्रिया शब्दके द्वारा धातुके समस्त प्रकारके अर्थोंका बोध होता है, उसी प्रकार यहाँ अनुशीलन शब्दके द्वारा भी इस धातुके समस्त प्रकारके अर्थोंका बोध हो रहा है। धातुके अर्थ दो प्रकारके होते हैं—चेष्टारूप और भावरूप। चेष्टारूप अर्थ भी दो प्रकारके होते हैं—प्रवृत्तिमूलक और निवृत्तिमूलक। प्रवृत्त्यात्मक धातुका अर्थ कायिक, मानसिक और वाचिक चेष्टारूप होता है। निवृत्त्यात्मक धातुका अर्थ प्रवृत्तिमूलक धातुके अर्थसे भिन्न होता है—अर्थात् ऐसी कोई चेष्टा न हो, जिससे सेवापराध, नामापराध और धामापराध उत्पन्न हों। तथा भावरूपका जो अर्थ बतलाया गया है, उसका तात्पर्य रति, प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, महाभाव आदिको समझना चाहिए। ये भावसमूह प्राकृत भावनासे सम्पूर्णरूपसे अतीत एवं विशुद्ध अप्राकृत हैं। भावरूप अर्थ शुद्ध मानसिक अनुभावात्मक होते हैं। इनका वर्णन बादमें किया जायेगा।

इस प्रकार अनुशीलन शब्दका जो प्रवृत्त्यात्मक-निवृत्त्यात्मक चेष्टारूप और भावरूप अर्थ कहा गया है; वह यदि कृष्णसे सम्बन्धित अथवा कृष्णके लिए हो, तो उसे भक्ति कहते हैं।

नोट—श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुमें जिन ६४ प्रकारके भक्त्यङ्गोंका वर्णन किया है, उनमें से श्रीगुरुपादश्रयसे लेकर जो प्रारम्भिक दस प्रकारके भक्त्यङ्ग हैं, वे प्रवृत्तिमूलक चेष्टारूप अनुशीलन हैं। ये दस अङ्ग प्रारम्भिक भजन-स्वरूप हैं। इसके पश्चात् अवैष्णव-सङ्ग-त्याग और सेवा-नामापराधादि वर्जन प्रभृति जो दस अङ्ग बतलाये गये हैं, उनका वर्जन करना ही निवृत्तिमूलक चेष्टारूप अनुशीलन है। इनका व्यतिरेकरूपसे अनुष्ठान करना चाहिए।

श्रीकृष्णसे सम्बन्धित सभी प्रकारके अनुशीलन अथवा श्रीकृष्णके लिए सब प्रकारके अनुशीलन—इन दोनों प्रकारकी चेष्टाओंको कृष्णानुशीलन पदके द्वारा प्रकाश करनेके लिए श्रीगुरुपदाश्रय, दीक्षा-शिक्षा, विश्रम्भरूपसे गुरुसेवा आदि भक्त्यङ्गोंमें अव्याप्ति दोषकी सम्भावना नहीं है। इसी प्रकार रति प्रेमादि भावरूप अर्थको भी कृष्णानुशीलन पदके अन्तर्भुक्त कर लिये जानेके कारण रति इत्यादि स्थायी और व्यभिचारी भाव समूहमें भी अव्याप्ति दोषकी सम्भावना नहीं है। इस प्रकार कृष्णके लिए चेष्टारूप और भावरूप अनुशीलन एकमात्र श्रीकृष्ण और उनके भक्तोंकी कृपासे ही सम्भव है। श्रीगुरुदेव परम भगवद्भक्त हैं, अतः श्रीगुरुपादाश्रयादि अङ्ग भी कृष्णानुशीलनके अन्तर्गत ही हैं। स्थायीभावसमूह अथवा अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारी भाव भी श्रीकृष्ण-सम्बन्धित ही हैं। अतः ये भी कृष्णानुशीलनके अन्तर्गत हैं। कृष्णानुशीलन या भक्ति श्रीकृष्णकी स्वरूप-शक्तिकी एक वृत्ति विशेष हैं। बद्धजीवोंका शरीर, इन्द्रियाँ और मन आदि सब अचेतन हैं। स्वरूप-शक्तिकी वृत्ति बद्धजीवोंके अचेतन अथवा जड़ काय, मन और वाक्यमें आविर्भूत नहीं हो सकती, किन्तु करुणावरुणालय श्रीकृष्ण अथवा परम भगवद्भक्तोंकी अहैतुकी कृपासे श्रीगुरुपदाश्रित भक्तोंके काय, मन और वाक्यमें (जड़ीय होने पर भी) स्वरूप-शक्तिकी वृत्ति तादात्म प्राप्त होकर आविर्भूत होती है। इस विषयमें आगे और भी स्पष्ट रूपसे वर्णन किया जायेगा। यहाँ तादात्मका तात्पर्य जिस प्रकार अग्नि लोहेमें प्रवेशकर दूसरी वस्तुओंको जलाती है, लोहा नहीं जलाता। यहाँ लोहेमें आगका तादात्म है। इसी प्रकार भगवत् कृपासे स्वरूप-शक्तिकी

भक्तिवृत्ति भक्तोंके काय, मन, और वाक्यमें तादात्म होकर क्रिया करती है।

यहाँ 'श्रीकृष्ण' शब्दका प्रयोग स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण एवं श्रीकृष्णके अन्यान्य सभी अवतारोंके लिए हुअ है, किन्तु स्वयं अवतारी श्रीकृष्ण एवं अन्यान्य अवतारोंके भक्ति अनुशीलनमें कुछ-कुछ तारतम्य है। भक्ति अनुशीलनके इस तारतम्यका पीछे वर्णन जायेगा।

ऊपरमें जो कृष्णानुशीलन कहा गया है, उसके दो लक्षण है—स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षण। यहाँ स्वरूप लक्षणको बतला रहे हैं। भक्तिकी स्वरूप सिद्धिके लिए 'आनुकूल्येन' अर्थात् 'आनुकूल्य विशिष्ट'—इस विशेषणका प्रयोग किया गया है। क्योंकि प्रतिकूल अर्थात् विरुद्धाचरणके द्वारा भक्तिकी सिद्धि ही नहीं होती। किन्हीं-किन्हीं महानुभावोंने 'आनुकूल्य' शब्दका अर्थ रोचमाना प्रवृत्ति (रुचिकर) किया है अर्थात् श्रीकृष्णका जो अनुशीलन (भक्ति) किया जा रहा है, वह अनुशीलन कृष्णको रुचिकर होना चाहिए। श्रीकृष्णके लिए ऐसी रोचमाना प्रवृत्तिका नाम आनुकूल्यविशिष्ट भक्ति है, किन्तु इस प्रकारका अर्थ ग्रहण करनेसे इसमें (लक्षणमें) अतिव्याप्ति और अव्याप्तिका दोष होनेकी सम्भावना उपस्थित हो जाती है। जैसे—चाणूर-मूष्टिकादि असुरोंने मल्लयुद्धमें श्रीकृष्णके अङ्गों पर प्रहार किया। उस प्रहारसे श्रीकृष्णको बड़ा ही उत्साह हुआ। वे चाणूर-मूष्टिकादिके साथ बड़े उत्साहसे वीररसका आस्वादन करने लगे। यहाँ असुरोंका प्रहाररूप अनुशीलन कृष्णके लिए रुचिकर प्रतीत हो रहा है। यहाँ शंका होती है कि असुरोंका प्रहार कृष्णके लिए रुचिकर कैसे हो सकता है? इसके लिए श्रीमद्भागवत

(१/१३/३०)का श्लोकांश उद्धृत किया गया है—“मनस्विनामिव सन् संप्रहार” इति अर्थात् साधारण लोगोंकी दृष्टिमें शत्रुके साथ भयानक युद्ध दुःखजनक होने पर भी वीरोंके लिए रुचिकर ही होता है। अतएव मल्लयुद्धमें असुरोंका घोर प्रहार श्रीकृष्णको रुचिकर होनेके कारण, यदि असुरोंकी इस चेष्टाको भक्ति मान लिया जाय, तो भक्तिके इस लक्षणमें अतिव्याप्तिका दोष प्रवेश करता है अर्थात् असुरोंका द्वेषभावपूर्ण जो प्रहाररूप अनुशीलन है, वह भक्तिका अत्यन्त विरोधी है, किन्तु कृष्णको रुचिकर होनेके कारण उसमें भक्तिका लक्षण व्याप्त होता दिखाई पड़ता है।

पुनः यशोदा मैया श्रीकृष्णको गोदीमें बैठाकर स्तनपान करा रही थी, उधर चूल्हे पर दुग्ध उफनकर आगमें गिर रहा था। यशोदा मैया अतृप्त कृष्णको छोड़कर दुग्ध रक्षाके लिए चली गयीं। कृष्णको यह रुचिकर नहीं हुआ, क्रोधसे उनके छोटे-छोटे होंठ काँपने लगे—‘सञ्जातकोपः स्फुरिता-रूणाधरमिति’ (श्रीमद्भा० १०/९/६)। यहाँ यशोदा माँकी यह चेष्टा श्रीकृष्णके लिए अरुचिकर होनेके कारण भक्तिकी परिभाषामें व्याप्त नहीं होती। अतः यहाँ पर भक्तिके लक्षणमें अव्याप्ति दोष प्रतीत होता है।

उपर्युक्त असुरों एवं यशोदा मैयाके अनुशीलन रूप उदाहरणोंमें जो क्रमशः अतिव्याप्ति और अव्याप्तिका दोष प्रतीत हो रहा है, उसका निषेध करनेके अभिप्रायसे ही यहाँ आनुकूल्य शब्दका प्रयोग किया गया है। अर्थात् आनुकूल्यताका तात्पर्य प्रतिकूल भावसे रहित होना ही है।

प्रातिकूल्य शून्यत्व नहीं होनेसे भक्ति सिद्ध नहीं होती—इस सिद्धान्तके अनुसार असुरोंमें सर्वदा द्वेषरूप प्रतिकूलता

विद्यमान रहनेसे उसमें अतिव्याप्तिका दोष स्पर्श ही नहीं करता अर्थात् प्रातिकूल्य (द्वेष) भावसे रहित न होनेके कारण उनका वह अनुशीलन भक्ति नहीं है। यहाँ पर आनुकूल्यका तात्पर्य प्रतिकूल भावसे रहित होना ही है। दूसरी ओर यशोदा मैयाके अनुशीलनमें ऊपरसे प्रतिकूलता दृष्टिगोचर होती है, क्योंकि उसमें कृष्णकी रुचि नहीं देखी जाती है, किन्तु यशोदा मैयामें प्रातिकूल्यकी कोई गन्ध भी न रहनेके कारण अर्थात् उनमें कृष्णके प्रति सर्वदा कल्याण और पालन-पोषणकी भावना ही अन्तर्निहित रहती है। अतएव इस लक्षणमें अव्याप्तिका दोष स्पर्श नहीं करता। भक्तोंकी स्वाभाविक रूपमें कृष्णकी अपेक्षा भी कृष्णके सेवोपकरणोंमें अधिक प्रीति देखी जाती है। उक्त दुग्धसे ही कृष्णका पालन-पोषण होगा, इस भावी कृष्ण-कल्याणकी भावनासे ही यशोदा मैयाकी कृष्णको छोड़कर उक्त दुग्ध रक्षाके लिए चेष्टा है, अतएव यह चेष्टा भी भक्ति है।

यदि कोई यह शंका करे कि जब आनुकूल्य अर्थात् प्रातिकूल्य-राहित्य ही भक्ति है और भक्तिमात्र ही यदि कृष्णके लिए आनुकूल्य या कृष्णके लिए रुचिकर चेष्टा स्वरूपा है, तब अनुशीलन इस विशेष्य पदके प्रयोगकी आवश्यकता ही क्या है? निरर्थक ही इस अनुशीलन रूप विशेष्य पदका प्रयोग क्यों किया गया? इसी शंकाका समाधान करनेके अभिप्रायसे ही अनुशीलन पदका प्रयोग किया गया है। केवलमात्र प्रातिकूल्यका अभाव होनेसे ही भक्ति सिद्ध नहीं होती, क्योंकि एक घटमें भी प्रातिकूल्यका अभाव होता है तब क्या घटको भी भक्ति कहा जा सकता है? कदापि नहीं। क्योंकि घटमें प्रतिकूलता तो नहीं है, यह

बात ठीक है, किन्तु इसमें अनुशीलन शब्दसे जिस चेष्टाका बोध होता है, इसमें वैसी कोई चेष्टा नहीं होनेसे इसका भक्तित्व सिद्ध नहीं होता। अतः 'अनुशीलन' शब्दका प्रयोग निरर्थक नहीं है।

इस प्रकार भक्तिका स्वरूप-लक्षण बतलाकर अब भक्तिकी उत्तमताको सिद्ध करनेके लिए उक्त श्लोकके प्रारम्भमें दो विशेषण पदोंका प्रयोग किया गया है—(१) अन्याभिलाषिता शून्यं, (२) ज्ञान-कर्मादि अनावृतम्। वह अनुशीलन कैसा होना चाहिए?—भक्तिकी वृद्धि हो, इसके अतिरिक्त लौकिक या पारलौकिक (स्वर्गादि और योगसिद्धि आदि) किसी भी प्रकारकी दूसरी अभिलाषाओंसे रहित होना चाहिए। श्रीमद्भागवतमें भी ऐसा कहा गया है कि भक्तिके द्वारा ही भक्ति सञ्जात होती है। 'भक्त्या सञ्जातया भक्त्या' (श्रीमद्भा॰ ११/३/३१) इस उक्तिके अनुसार भक्तिके उद्देश्यसे ही भक्ति (श्रवणादि साधन भक्ति) करना कर्त्तव्य है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रेमाभक्तिके उद्देश्यसे ही साधन और भाव भक्ति होनी चाहिए। इसलिए भक्तिके अतिरिक्त अन्य सभी प्रकारकी अभिलाषाओंसे शून्य होना ही उत्तमा भक्ति है।

एक विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ 'अन्याभिलाष शून्यं' न कहकर 'अन्याभिलाषिताशूयं' क्यों कहा गया? इसमें श्रीलरूप गोस्वामीपादका एक गूढ़ अन्तर्निहित भाव छिपा है। श्रीलरूप गोस्वामीपादने बहुत विचारकर अन्याभिलाषिताशून्यं पदका प्रयोग किया है। 'अन्याभिलाष' शब्दके अन्तमें (स्वभावार्थ वाचक) शीलार्थ सूचक नि-नि प्रत्यय और उसके पश्चात् भावार्थमें ता प्रत्ययके द्वारा यह

दिखलाया है कि—किसी साधक-भक्तिकी स्वाभाविक स्थितिमें भक्तिके आतिरिक्त अन्य कोई भी अभिलाषा नहीं होनी चाहिए, किन्तु अकस्मात् कोई विपत्ति आने पर (अस्वाभाविक स्थितिमें) यदि कोई साधक-भक्त ऐसी प्रार्थना करता है, "हे भगवन्! मैं तुम्हारा भक्त हूँ। मेरी इस विपत्तिसे रक्षा करें", तो ऐसी अभिलाषाके होने पर भी उसकी भक्तिकी हानि नहीं होती। क्योंकि विपत्तिके कारण उसके स्वभावका विपर्यय हुआ है। इसलिए वह विवश होकर अस्वाभाविक रूपमें ऐसी प्रार्थना कर रहा है। उसकी ऐसी अभिलाषा स्वभावसिद्ध नहीं है—ऐसा समझना होगा।

पुनः द्वितीय गौण लक्षण बतला रहे हैं—ज्ञानकर्मादि अनावृतम् अर्थात् भक्तिका अनुशीलन ज्ञान और कर्मादिसे अनावृत होना चाहिए। ज्ञानके तीन अङ्ग हैं—तत्पदार्थका ज्ञान, त्वं पदार्थका ज्ञान और जीवब्रह्म ऐक्य ज्ञान।

तत्पदार्थका ज्ञान—श्रीकृष्ण ही परम तत्त्ववस्तु हैं, वे अद्वयज्ञान परब्रह्म हैं, सबके आदि स्वयं अनादि, सर्वकारणोंके कारण, ऐश्वर्य और माधुर्य गुणोंके परम निधान-स्वरूप हैं। वे प्राकृत हेय गुणोंसे सर्वथा रहित, अप्राकृत सर्वगुण सम्पन्न, सच्चिदानन्दमयविग्रह, अचिन्त्य सर्वशक्तिमान, रस एवं रसिक-स्वरूप हैं। वे ही वेदादि समस्त शास्त्रोंके प्रतिपाद्य स्वयं भगवान् हैं। वे ही स्वयं भगवद् शब्दवाच्य हैं। ऐसे ज्ञानको तत्पदार्थका ज्ञान कहते हैं।

त्वं पदार्थका ज्ञान—चित्-स्वरूप श्रीकृष्णके किरण-कण स्थानीय चित्-परमाणु-स्वरूप जीव हैं। ये हरिसे अभिन्न होते हुए भी उनसे नित्य भिन्न होते हैं। जीव अणुचैतन्य, भगवान् विभु-चैतन्य हैं; जीव मायावश और भगवान् मायाधीश हैं;

जीव मुक्तावस्थामें भी अपने तटस्थ स्वभावके अनुसार माया-प्रकृतिके अधीन होने योग्य होता है। जीव ज्ञानस्वरूप और ज्ञातास्वरूप है; उसमें कर्त्तृव भी है, किन्तु फिर भी वह अणुचित् है। उसमें अणु-स्वातन्त्र्य भी है, इसलिए वह स्वरूपतः परतत्त्व-स्वरूप श्रीकृष्णका नित्यदास है। उसका नित्य पृथक् अस्तित्व भी है अर्थात् वह परतन्त्र-स्वतन्त्र है। जीव श्रीकृष्णकी तटस्था शक्तिका परिणाम होनेके कारण श्रीकृष्णसे उसका अचिन्त्य भेदाभेद सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त भगवद् अंश होनेके कारण, भगवद् सेवाकी वृत्ति उनके स्वरूपमें ही अवस्थित होनेके कारण, कृष्णसे जीवका नित्य सेव्य-सेवक सम्बन्ध भी है। ऐसे ज्ञानको त्वं पदार्थका ज्ञान कहते हैं।

जीवब्रह्म ऐक्य ज्ञान—जीव और ब्रह्ममें कोई भेद नहीं है, अविद्याके दूर होने पर जीव ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। उस समय जीवका कोई पृथक् अस्तित्व नहीं होता। ऐसे ज्ञानको जीवब्रह्म ऐक्य ज्ञान कहा जाता है।

मूल श्लोकमें 'ज्ञान' शब्दका तात्पर्य केवल जीवबह्मके इसे ऐक्य ज्ञानसे ही है। ऐसे ज्ञानको निर्विशेष ज्ञान कहते हैं। यह निर्विशेष ज्ञान भक्तिका विरोधी ज्ञान है; किन्तु उपर्युक्त तत्पदार्थ एवं त्वं पदार्थका ज्ञान भक्तिका विरोधी नहीं है। भक्तिमें प्रवेश करनेके समय उपरोक्त दोनों प्रकारके ज्ञानोंकी आवश्यकता रहती है, किन्तु भक्तिमें प्रवेश करने पर ज्ञानमिश्रा भक्तिको भी 'बाह्य' बतलाकर उसे भी त्याग करनेकी बात कही गयी है। जीवब्रह्मके ऐक्य ज्ञानमें, जीवब्रह्मके स्वरूपगत सम्बन्ध अर्थात् सेव्य-सेवक सम्बन्धका उदय कभी सम्भव नहीं है। यह सेव्य-सेवक भाव ही

भक्तिका प्राण है। अतः निर्विशेष ब्रह्मज्ञानसे सर्वथा विशुद्ध रहना ही उत्तमा भक्तिका गौण लक्षण है।

यह भी स्मरण रखना चाहिए कि भक्ति तीन प्रकारकी होती है—स्वरूपसिद्धा, सङ्गसिद्धा और आरोपसिद्धा।

जिसमें स्वरूपतः भक्तित्व अर्थात् आनुकूल्य रूपसे कृष्णानुशीलन धर्म नहीं रहने पर भी अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिए जो भगवद् सन्तुष्टि हेतु उनको अपने कर्मों एवं कर्मफल आदिको अर्पण करते हैं; उसका नाम आरोपसिद्धा भक्ति है। अर्थात् भगवान्में आरोप करनेके कारण ही उनमें भक्ति आरोपित हुई है।

स्वरूपतः भक्तित्व अर्थात् आनुकूल्य अनुशीलन न रहने पर भक्तिके परिकररूपमें संस्थापित होनेके कारण जिनका भक्तित्व सिद्ध होता है, उसे सङ्गसिद्धा भक्ति कहते हैं। जैसे—श्रीमद्भागवतके ग्यारहवें स्कन्धमें निमि महाराजके प्रति बतलायी गयी है—लोगोंके प्रति दया, मैत्री, सम्मान प्रदर्शन करना, शौच, तपस्या, तितिक्षा, मौन, स्वाध्याय, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा आदिका पालन करना चाहिए। सर्दी–गर्मी और सुख–दुःखको समान समझना चाहिए। सर्वत्र भगवान्का अस्तित्व देखना चाहिए। एकान्तमें वास करना, गृहकी ममता छोड़कर यथा लाभमें ही सन्तुष्ट रहना चाहिए इत्यादि। जो भागवत् धर्मके आचरणकी बात कही गयी है, वह स्वरूपतः भक्ति नहीं होने पर भी भक्तिके लिए सहायक है अथवा परिकरके समान है। यदि इन २६ गुणोंमें से भगवद्भक्तिको निकाल दिया जाय, तो दया, मैत्री, तितिक्षा और तपस्या आदिके साथ भगवान्का कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता है। भक्तिके सहायक या परिकर रूपमें रहने पर ही इनका

भक्तित्व सिद्ध होता है। इसलिए इन्हें सङ्गसिद्धा भक्ति कहते हैं।

श्रीकृष्णेतर सभी प्रकारकी अभिलाषाओंसे रहित, ज्ञान-कर्मादिसे अनावृत, आनुकूल्यमय, श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण आदि चेष्टाएँ और भाव स्वरूपसिद्धा भक्ति है। अर्थात् व्यवधानरहित साक्षात् रूपसे कृष्णके लिए और कृष्ण सम्बन्धी कायिक, वाचिक और मानसिक चेष्टाओंका नाम स्वरूपसिद्धा भक्ति है।

इसलिए श्रीचैतन्यचरितामृतके रायरामानन्द संवादमें आरोपसिद्धा और सङ्गसिद्धाको भी बाह्य बतलाया गया है। यहाँ 'कर्म' शब्दसे स्मार्त्त अर्थात् स्मृति शास्त्रमें कहे गये नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका तथा कर्म-ज्ञानमिश्रा भक्ति आदिका ही निषेध किया गया है। भजनोपयोगी सेवा-परिचर्यारूप कर्म निषिद्ध नहीं हैं, क्योंकि भजनीय सेवा-परिचर्या आदि कर्मसमूह कृष्णानुशीलनके अन्तर्गत हैं, अतः ये कदापि वर्जनीय नहीं हो सकते। ज्ञान-कर्मादिके अन्तर्गत 'आदि' शब्दसे फल्गुवैराग्य, अष्टाङ्गयोग, सांख्यशास्त्रोक्त अभ्यासयोग और आलस्य इत्यादिका भी यहाँ निषेध किया गया है। यहाँ एक और भी बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि ज्ञानकर्मादिके द्वारा शून्य न कहकर 'अनावृत' शब्दका प्रयोग क्यों किया गया? इसलिए कि केवल भक्तिको आवृत करनेवाले ज्ञानकर्मादिका निषेध करना ही एकमात्र अभिप्राय है, भक्ति पोषक ज्ञानकर्मादिका नहीं। क्योंकि कर्मज्ञानादि शून्य होनेसे साधकके जीवनका निर्वाह होना भी सम्भव नहीं है।

भक्तिके आवरण दो प्रकारके होते हैं—(१) शास्त्रके निर्देशानुसार नित्यकर्मोंको नहीं करनेसे पाप होता है इस

भयसे, (२) स्मृतिशास्त्रमें बतलाये गये नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे भक्तिरूप अभीष्ट फल प्राप्त होता है, ऐसा विश्वास कर श्रद्धापूर्वक इन कर्मोंको करनेसे भक्ति आवृत होती है। इसीलिए महानुभवजन (उन्नत श्रेणीके भक्त) लोकशिक्षा और लोकसंग्रहके लिए कभी-कभी श्रद्धा नहीं होने पर भी पितृश्राद्धादि अनुष्ठान करते हैं, किन्तु वे अनुष्ठान अश्रद्धापूर्वक किये जानेके कारण शुद्धभक्तिके आवरक या बाधक नहीं होते।

यहाँ कृष्णानुशीलन ही कृष्णभक्ति है, इसी अभिप्रायको स्पष्ट करनेके लिए ही यहाँ 'कृष्णानुशीलनम्' शब्दका प्रयोग हुआ है, क्योंकि भागवत, नारदपञ्चरात्रादि भक्तिशास्त्रोंमें सर्वत्र ही 'भक्ति' शब्दका उल्लेख भगवद्भक्तिके लिए ही किया गया है। इसका तात्पर्य है कि 'भक्ति' शब्द केवलमात्र विष्णुतत्त्वके लिए प्रयुक्त होना चाहिए॥१॥

सा भक्तिः साधनभक्तिर्भावभक्तिः प्रेमाभक्तिरिति त्रिविधा।
साधनभक्तिः पुनर्वैधीरागानुगाभेदेन द्विविधा॥२॥

सा भक्तिरिति।—अथात्र साधन-साध्यरूपो द्विविधो भेद एवास्तु भवस्यापि साध्यभक्त्यन्तर्भावोऽस्तु किं भेदत्रयकरणेनेति चेन्न। यतोऽग्रे वक्ष्यमाणस्य उत्पन्नरतयः सम्यङ् नैर्विघ्न्यमनुपागताः। कृष्णसाक्षात्कृतौ योग्याः साधकाः परिकीर्त्तिताः॥ इति साधक-भक्तलक्षणस्य मध्ये रत्यपरपर्यायस्य भावस्याविर्भावेऽपि सम्यङ्नैर्विघ्न्य-मनुपागता इति विशेषणेन प्रबलतरस्य कस्यचिदपराधस्य कश्चन भागोऽवशिष्टोऽस्ति इति लभ्यते। एवं सति क्लेशजनकस्यापराधस्य लेशेऽपि साध्यभक्तेराविर्भावो न संभवति। अतएव तत्रैवोक्तस्य साध्यभक्तिविशिष्ट सिद्धभक्तलक्षणस्य मध्ये अविज्ञाताखिलक्लेशाः

सदाकृष्णाश्रिताक्रियाः सिद्धाः स्युरित्यनेन तथैव प्रतिपादितं। तस्माद्भावस्य साध्यभक्तेरन्तर्भावो न संभवति। तथैव साधनभक्तेरन्तर्भावस्तु सुतरामेव नास्ति। यतोऽत्रैव प्रकरणे साधनभक्तिलक्षणे भावसाधनत्वरूप विशेषणेन भावस्य साधनभक्तित्वं परास्तं। भावस्य भाव-साधनत्वाभावात्। तस्मात् साधूक्तं भक्तेस्त्रिविधत्वमिति विवेचनीयं।

उत्तमाभक्तिके प्रकार

श्रीबिन्दु-विकाशिनी-वृत्ति—पूर्वोक्त उत्तमाभक्ति तीन प्रकारकी होती है—साधनभक्ति, भावभक्ति और प्रेमभक्ति। यह साधनभक्ति भी वैधी और रागानुगा भेदसे दो प्रकारकी होती है॥२॥

यहाँ यदि कोई यह पूर्वपक्ष करे कि उत्तमाभक्ति भी दो प्रकारकी ही मानी जानी चाहिए—(१) साधनरूप 'साधनभक्ति' और साध्यरूप 'प्रेमभक्ति'; भावभक्तिको दूसरी साध्यभक्तिरूप प्रेमभक्तिके ही अन्तर्भुक्त मान लिया जाय, फिर तीन भेद स्वीकार करनेकी आवश्यकता ही क्या है? नहीं! यह आशंका सर्वथा निराधार है, उत्तमाभक्ति तीन प्रकारकी मानी जानी चाहिए। इसके कुछ संगत कारण हैं।

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुमें (२/१/२७६) साधक भक्तका लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है—

उत्पन्नरतयः सम्यङ् नैर्विघ्न्यमनुपागताः।
कृष्णसाक्षात्कृतौ योग्याः साधकाः परिकीर्त्तिताः॥

अर्थात् जिनके हृदयमें श्रीकृष्ण-विषयक रति (भाव) तो आविर्भूत हो गयी है, किन्तु अभी तक विघ्नोंकी निवृत्ति भलीभाँति नहीं हो पायी है तथा कृष्ण-साक्षात्कारकी योग्यता भी उपस्थित हो गयी है, उन्हें साधकभक्त कहते है।

साधकभक्तके इस लक्षणसे यह स्पष्ट होता है कि साधकके हृदयमें रतिका (रतिका दूसरा नाम भाव है) या भावभक्तिका आविर्भाव होने पर भी विघ्नोंकी पूर्णरूपेण निवृत्ति नहीं हो पायी है। उस समय भी साधक भक्तमें किसी-न-किसी प्रबलतर महत् अपराधका कुछ-न-कुछ अंश अवशिष्ट रहता है। जब तक साधक भक्तके हृदयमें लेशमात्र भी महत् अपराध अवशिष्ट रहता है, तब तक उसके द्वारा क्लेश और विघ्न उत्पन्न होनेकी सम्भावना बनी रहती है और तब तक उक्त साधक भक्तमें साध्यभक्ति या प्रेमभक्तिका आविर्भाव सम्भव नहीं है। इसलिए श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुमें साध्यभक्तिवाले सिद्ध भक्तोंके लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं—

अविज्ञाताखिलक्लेशाः सदा कृष्णाश्रितक्रियाः।
सिद्धाः स्युः सन्ततप्रेमसौख्यास्वादपरायणाः॥
(भ॰र॰सि॰ २/१/२८०)

अर्थात् जो सर्वदा कृष्ण-स्म्बन्धी क्रियाअेंमें पूर्णारूपसे निमग्न रहते हैं तथा किसी भी प्रकारके क्लेश या विघ्नसे अपरिचित रहते हैं, वे सिद्ध भक्त हैं। भावभक्तिके साधकोंमें क्लेश उपस्थित होते हैं तथा उन्हें क्लेशों और विघ्नोंकी अनुभूति भी होती है, किन्तु सिद्धभक्तोंमें न तो क्लेश उपस्थित होते हैं और न ही उन्हें क्लेशादिकी अनुभूति होती है। इसलिए भावभक्तिको साध्य अथवा प्रेमभक्तिके अन्तर्भुक्त कदापि नहीं किया जा सकता।

पुनः यह पूर्वपक्ष होता है कि ऐसी स्थितिमें भावभक्तिको साधनभक्तिके ही अन्तर्भुक्त मान लिया जाय। इसके उत्तरमें कहते हैं—भावभक्ति, साधनभक्तिके अन्तर्गत है, यह भी

कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता। चूँकि इसी प्रकरणमें साधनभक्तिका लक्षण इस प्राकार बतलाया गया है—

कृतिसाध्या भवेत् साध्यभावा सा साधनाभिधा।
नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता॥
(भ॰र॰सि॰ १/२/२)

इस श्लोकमें साधनभक्तिको साध्यभाव कहा गया है अर्थात् जो भाव-भक्तिका साधन है या जिस साधनभक्ति द्वारा भावभक्ति साधित होती है, उसे साध्यभाव कहते हैं। जब साधन भक्तिका फल भावभक्ति है, तब भावभक्तिको साधनभक्तिके अन्तर्भुक्त कैसे किया जा सकता है? भावभक्तिका साधन 'भावभक्ति' कदापि नहीं हो सकता। इसलिए पूर्वोक्त साधनभक्ति, भावभक्ति और प्रेमभक्ति—उत्तमा भक्तिके ये तीन भेद सर्वथा संगत और सब प्रकारसे सुन्दर हैं।

साधनभक्ति

कृतीति। —सा सामान्यतो लक्षितोत्तमा भक्तिः। इन्द्रियव्यापारेण साध्या चेत् साधनाभिधा भवति। अत्र इन्द्रियव्यापारस्य भक्त्यन्तर्भावः, यागक्रियायाः (पूर्वक्रियायाः) यथा यागान्तर्भावस्तथैव ज्ञेयः। तेन भक्तिभिन्नस्य न भक्ति-जनकत्वमिति सिद्धान्त्येऽपि सङ्गच्छते। अत्र भावभक्तेरनुभावरूपस्य श्रवणकीर्त्तनादेः साधनत्वव्यवहाराभावात्तद्वारणायाह साध्येति। साध्यो भावो यया सा भावजनकेत्यर्थ तेन धर्मार्थादि-पुरुषार्थान्तरसाधकभक्तिश्च परिहृता उत्तमाया उपक्रान्तत्वात्। भावादीनां साध्यत्वे कृत्रिमत्वात् परमपुरुषार्थत्वाभावः स्यादित्याशंक्याह नित्येति। भावस्याप्युपलक्षणमतः श्रवणकीर्त्तनादयोऽपि ग्राह्याः। तेषामपि कर्त्तृ-जिह्वादौ प्राकट्यमात्रं। यथा श्रीकृष्णो वसुदेवगृहे अवततार। भक्तीनां भगवच्छक्तिविशेषत्वेनाग्रे साधयिष्यमानत्वादिति भावः॥२॥

साधनभक्ति

श्रीबिन्दु-विकाशिनी-वृत्ति—साधनभक्ति वैधी और रागानुगाके भेदसे दो प्रकारकी होती है। अन्याभिलाषिताशून्यादि श्लोकमें सामान्यरूपसे जिस उत्तमाभक्तिका लक्षण बतलाया गया है, वह जब बद्धजीवोंकी इन्द्रियोंके द्वारा साधित होती है, तब उसे साधन भक्ति कहते हैं। श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुमें ऐसा कहा है—

कृतिसाध्या भवेत् साध्यभावा सा साधनाभिधा।
नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता॥

अर्थात् साध्य भावभक्ति जब कृति (इन्द्रियों)के द्वारा साधित होती है, तब उसे साधनभक्ति कहते हैं। भक्ति ही जीवोंका नित्यसिद्ध भाव है। उसे निर्मल हृदयमें प्रकट करानेका नाम ही साध्यता है। इसका तात्पर्य यह है कि चित्कण स्वरूप जीवोंमें स्वभावतः चित्सूर्यरूपी कृष्णका जो आनन्दकण है, वह मायाबद्ध होने पर लुप्तप्राय रहता है। उस नित्य स्वभावको हृदयमें प्रकट कराना ही जीवोंका एकमात्र कर्त्तव्य है। इस अवस्थामें ही नित्यसिद्ध वस्तुकी साध्यावस्था सिद्ध है। यह साध्यभाव रूप भक्ति जब तक बद्धजीवोंकी इन्द्रियों द्वारा साधित होती है, तब तक उसे साधनभक्ति कहते हैं।

भगवान् या भक्तोंकी कृपासे ही श्रवणकीर्त्तनादि भक्ति स्वयं जीवोंकी विशुद्ध इन्द्रियों पर आविर्भूत होती है। इससे पूर्व जब श्रद्धालुजीव अपनी चेष्टासे जिह्वा द्वारा भगवन्नाम कीर्त्तन करता है अथवा कानों द्वारा भगवद्कथा श्रवण करता है, तो ऐसी चेष्टाका नाम इन्द्रियव्यापार या इन्द्रियप्रेरणा

है, किन्तु इसे भी साधन भक्तिके रूपमें ग्रहण किया गया है। जैसे—यज्ञ करनेके लिए घृत-समिध-कुश-पुष्प-आसनादि द्रव्योंको एकत्रित करना आदि पूर्वानुष्ठित क्रियाएँ भी यज्ञके अन्तर्भुक्त मानी जाती हैं, उसी प्रकार श्रवणकीर्त्तनादि साधन भक्तिके अनुष्ठानके लिए उससे पूर्वानुष्ठित इन्द्रियव्यापारको भी भक्तिके अन्तर्गत माना गया है। भक्तिसे भिन्न कर्म, ज्ञान, योग, तपस्या, व्रतादि किसी भी दूसरे साधनसे भक्तिका आविर्भाव नहीं कराया जा सकता। भक्ति ही भक्ति आविर्भावका एकमात्र हेतु है। यह सिद्धान्त पूर्णतया संगत है।

भावभक्ति—भावभक्तिके अनुभाव या कार्यरूप अवस्थामें श्रवणकीर्त्तनादि अङ्गोंको भावभक्ति ही कहा जाता है, उन्हें साधनभक्ति कहना भूल होगा। इसलिए इसके निवारणके लिए ही मूल श्लोकमें साध्यभावा विशेषणका प्रयोग किया गया है। जिसके द्वारा भाव 'साध्य' (साधित) होता है, उसे साध्यभावा कहते हैं। साधनभक्ति भावभक्तिका आविर्भाव कराती है। अतएव जिस भक्तिसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्षादि अन्यान्य पुरुषार्थ साधित होते हैं, उस भक्तिको साधन भक्तिसे अलग रखा गया है। उन्हें साधन भक्ति नहीं कहा जा सकता। इसका कारण यह है कि भक्तिके अतिरिक्त अन्य कामनाओंकी गन्धमात्र भी जिस भक्तिमें नहीं है, उस उत्तमाभक्तिका प्रसङ्ग ही यहाँ चल रहा है। यहाँ शङ्का होती है कि यदि साधनभक्ति द्वारा भावभक्ति साधित होती है, तो भावभक्ति पहले नहीं थी। साधन भक्ति द्वारा उत्पन्न हुई है। ऐसी स्थितिमें भावभक्ति कृत्रिम या अनित्य हो जाती है। इसलिए इस अनित्य भावभक्तिको नित्यसिद्ध अथवा परम

पुरुषार्थ वस्तु कैसे मान लिया जाय? इस आशङ्काको दूर करनेके लिए मूल श्लोकमें 'नित्यसिद्ध' शब्दका प्रयोग हुआ है। भाव नित्यसिद्ध है। वह भगवान्के नित्य परिकरोंमें सदैव विद्यमान रहता है। वही नित्यसिद्ध भाव नित्य परिकरोंसे निर्मल जीव-हृदयमें स्वयं आविर्भूत होता है। श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी ऐसा ही कहा गया है—

नित्यसिद्ध कृणप्रेम साध्य कभु नय।
श्रवणादि शुद्धचित्ते करये उदय॥
(चै॰च॰म॰ २२/१०४)

अर्थात् 'कृष्णप्रेम' नित्यसिद्ध है, साधनोंके द्वारा यह साध्य नहीं है। श्रवणादि भक्तिके अङ्गोंके द्वारा शुद्धचित्तमें वह स्वयं आविर्भूत होता है। भाव उक्त प्रेमकी ही प्रारम्भिक अस्फुट अवस्था है, जिसको प्रेमका अंकुर भी कहा गया है। भावकी परिपक्व अथवा गाढ़ अवस्थाका नाम ही प्रेम है। इसलिए उक्त भाव भी नित्यसिद्ध वृत्ति है।

'भाव' शब्दका प्रयोग उपलक्षण[१] के रूपमें किया गया है, इसलिए 'भाव' शब्दसे भावभक्तिके अनुभाव या कार्यरूप श्रवणकीर्त्तनादिको ग्रहण करना चाहिए। जैसे—श्रीकृष्ण वसुदेवजीके घरमें अवतीर्ण हुए थे, किन्तु श्रीवसुदेवजीने कृष्णको जन्म दिया था—यह बात ठीक नहीं। उसी प्रकार जो लोग नित्यसिद्ध श्रवणकीर्त्तनादि भक्तिके अङ्गोंके अनुष्ठानमें प्रवृत्त होते हैं (उपयुक्त पद्धतिका अवलम्बन कर) उनके कर्ण और

---

[१] स्व-प्रतिपादकत्वे सति स्वेतरप्रतिपादकत्वमुपलक्षणं।—जो लक्षण अपना प्रतिपादन कर दूसरेका भी प्रतिपादन करता है, उसे उपलक्षण कहते हैं।

जिह्वादि इन्द्रियों पर श्रवणकीर्त्तनादि अङ्ग-समूह स्वयं ही प्रकाशित होते हैं, क्योंकि भक्ति भगवान्‌की स्वरूपशक्तिकी एक विशेष वृत्ति है। इसका निरूपण आगे (भावभक्ति प्रसङ्गमें) किया जायेगा॥२॥

प्रेम आविर्भावका क्रम

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजन-क्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः।
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति।
साधकनामयं प्रेम्नः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः॥३॥

अत्र वहुष्वपि क्रमेषु सत्सु प्रायिकमेकं क्रममाह आदावितिद्वयेन। आदौ प्रथम-साधु-सङ्गे शास्त्र-श्रवणद्वारा श्रद्धा तदर्थ-विश्वासः। ततः श्रद्धानन्तरं द्वितीयः साधु-सङ्गो भजनरीति-शिक्षार्थं। निष्ठा भजने अविक्षेपेण सातत्यं किन्तु बुद्धिपूर्विकेयं। आसक्तिस्तु स्वारसिकी। एतेन निष्ठासक्तयोर्भेदो ज्ञेयः॥३॥

प्रेम आविर्भावका क्रम

श्रीबिन्दु-विकाशिनी-वृत्ति—प्रेमाविर्भावके बहुतसे क्रम हैं, उनमें से शास्त्रोंमें वर्णित प्रसिद्ध क्रमका ही वर्णन यहाँ किया जा रहा है। भगवद्-विमुख जीव अनादिकालसे अपार संसार-सागरके अनन्त प्रवाहमें पतित होकर इधर-उधर भ्रमण कर रहा है। भगवान्‌की विशष कृपासे जिस समय जीवका संसार क्षय होने लगता है, उस समय उसको भगवद्-भक्तोंका सङ्ग प्राप्त होता है। तब साधुसङ्गमें महत्पुरुषोंके श्रीमुखसे भक्त, भक्ति और भगवान् इन तीनोंके विषयमें उसको माहात्म्यपूर्ण शास्त्र श्रवणका सौभाग्य प्राप्त

होता है। (१) शास्त्र-श्रवणके द्वारा पारमार्थिक शुद्ध श्रद्धाका आविर्भाव होता है। यहाँ 'श्रद्धा' शब्दका अर्थ है—श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत, भक्तिरसामृतसिन्धु आदि भक्ति शास्त्रोंके अर्थके प्रति दृढ़विश्वास। (२) ऐसी श्रद्धा उत्पन्न होने पर द्वितीय बार साधुसङ्ग लाभ होता है, जिसमें भजनकी रीतिके सम्बन्धमें शिक्षा आरम्भ होती है। (३) इसके पश्चात् श्रीगुरुपदाश्रय आदि भजन-क्रियाएँ होने लगती हैं। (४) भजन करते-करते अनथ-निवृत्ति[२] होती है। (५) अनर्थ-निवृत्तिके

---

[२] अनर्थ-निवृत्ति—अनर्थ चार प्रकारके होते हैं—स्वरूपभ्रम, असत्तृष्णा, अपराध और हृदयदौर्बल्य।

(क) स्वरूपभ्रम भी चार प्रकारके होते हैं—स्वतत्त्व (जीवस्वरूप)का भ्रम, परतत्त्वमें भ्रम, साध्य-साधन तत्त्वमें भ्रम और मायातत्त्वका भ्रम।

(ख) असत्तृष्ण भी चार प्रकारकी होती है—(१) लौकिक भोगोंकी विविध लालसाएँ, (२) स्वर्गादि पारलौकिक भेगोंकी लालसाएँ, (३) अष्टसिद्धि और नवनिधियोंसे उत्पन्न भोगोंकी लालसाएँ और (४) मुक्तिकी लालसा।

(ग) आपराध भी चार प्रकारके होते है—(१) कृष्णके प्रति, (२) कृष्णनामके प्रति, (३) कृष्णके स्वरूप अर्थात् श्रीविग्रहादिके प्रति और (४) चित्कण जीवोंके प्रति।

(घ) हृदयदौर्बल्य भी चार प्रकारके होते हैं—(१) तुच्छासक्तियाँ, (२) कूटीनाटी (जो वस्तुएँ 'कू' अर्थात् बुरी हैं तथा 'न' (नाटी) अर्थात् निषिद्ध हैं, उनका करना), (३) मात्सर्य (ईर्ष्या) और (४) अपनी प्रतिष्ठाकी लालसा।

इनके अतिरिक्त भी चार प्रकारके अनर्थ हैं—(१) दुष्कृति-उत्थ, (२) सुकृति-उत्थ, (३) अपराध-उत्थ और (४) भक्ति-उत्थ।

(१) दुष्कृति-उत्थ—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और दुरभिनिवेश—इन क्लेशोंका नाम दुष्कृतोत्थ अनर्थ है। कृष्णको भूलना ही अविद्य है, जड़ शरीरमें मैं और मेराका अभिमान अस्मिता है, विषयोंमें आसक्तिका

तारतम्यसे निष्ठा अर्थात् विक्षेप-रहित भजनके प्रति नैरन्तर्यमयी एकाग्रता उदित होती है। (६) तदनन्तर भजनमें रुचि अर्थात् लालसा उत्पन्न होती है। (७) वही रुचि प्रगाढ़ होने पर आसक्ति कहलाती है। पूर्वोक्त निष्ठा और आसक्तिमें अन्तर यह है कि निष्ठा बुद्धिपूर्वक होती है अर्थात् मन न लगने पर भी बुद्धिपूर्वक भजनमें तत्पर रहनेका नाम निष्ठा है। दूसरी तरफ आसक्ति स्वाभाविकी होती है अर्थात् जिस स्तर पर पहुँचने पर साधकको बुद्धि द्वारा किसी युक्ति इत्यादिकी अपेक्षा नहीं होती, स्वाभाविक रूपमें ही वह भजनमें अभिनिविष्ट रहता है—साधनके इस स्तरका नाम आसक्ति है। (८) ऐसी आसक्तिके पश्चात् भाव या रतिका आविर्भाव होता है। अन्तमें प्रेमका आविर्भाव होता है। साधकके हृदयमें प्रेमाविर्भावका यही क्रम है।

प्रेमाविर्भावके इस प्रसङ्गमें कुछ और स्पष्ट करना आवश्यक है। मूल श्लोकमें 'आदौ' शब्दके द्वारा प्रथम साधुसङ्गका बोध होता है। यह सङ्ग यूँ ही प्राप्त नहीं होता। जन्म-जन्मान्तरोंकी संचित सुकृतिके फलस्वरूप ही साधुसङ्ग प्राप्त होता है—

नाम राग है, प्रतिकूल विषयोंमें द्वेष होता है और पापकार्योंमें आसक्ति दुरभिनिवेश है।

(२) सुकृति-उत्थ—पूर्वजन्मार्जित नाना-प्रकारके सुख-भोग।

(३) अपराध-उत्थ—नामापराधादि फलस्वरूप दुःखभोग।

(४) भक्ति-उत्थ—सकाम अथवा सोपाधिक भक्तिसे उत्पन्न लाभ, पजा, प्रतिष्ठादिको कहते हैं।

इन सभी अनर्थोको दूर करनेकी चेष्टा करनी चाहिए अन्यथा निष्ठा उत्पन्न नहीं होती।

भक्तिस्तु भगवद्भक्तसङ्गेन परिजायते।
सत्सङ्गप्राप्यते पुंभिः सुकृतैः पूर्व संचितैः॥
(बृहन्नारदीय पुराण)

शास्त्रोंमें शुभकर्मोंको सुकृति कहा गया है। शुभकर्म दो प्रकारके होते हैं—भक्तिप्रवर्त्तक, दूसरा भक्तिको छोड़कर अवान्तर फल प्रवर्त्तक। मातापिता, पति आदिकी सेवा, लौकिक उपकार, दानादि नित्य-नैमित्तिक कर्म, सांख्यादि ज्ञान, इनसे अवान्तर फलप्रद सुकृति होती है। साधुसङ्ग और भक्ति सम्बन्धित देशकाल एवं द्रव्योंके सम्पर्कसे पारमार्थिक अर्थात् भक्तिप्रद सुकृति होती है। भक्तिप्रद सुकृति जन्म-जन्मान्तरोंमें राशि-राशि रूपमें एकत्रित होने पर साधुसङ्गके माध्यमसे भक्ति प्रादुर्भूत होती है। लौकिक सुकृतियाँ अभिलषित फलोंको देकर समाप्त हो जाती हैं। लौकिक सुकृतियोंका फल भोगदान पर्यन्त सीमित है। ब्रह्मज्ञान-मूलक सुकृति मुक्तिरूप फलको देकर निरस्त हो जाती है। ये दोनों ही प्रकारकी सुकृतियाँ भक्तिरूपी फलको देनेमें सर्वथा असमर्थ हैं। वैष्णव-साधुभक्तोंका सङ्ग, एकादशी, जन्माष्टमी, गौरपूर्णिमादि साधुभाव-जनक-काल, तुलसी, श्रीमन्दिर, श्रीवृन्दावनादि भगवद्धाम, महाप्रसाद, गङ्गा-यमुना आदिके दर्शन-स्पर्श इत्यादि क्रियाओंके द्वारा भक्तिप्रद सुकृति होती है। अनजानमें ये क्रियाएँ होने पर सुकृति होती है, किन्तु भक्तोंके सङ्गमें उनका माहात्म्य समझकर करने पर ये क्रियाएँ भक्तिका अङ्ग बन जाती हैं। श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा गया है—

श्रद्धा शब्दे विश्वास कहे सुदृढ़ निश्चय।
कृष्णे भक्ति कैले सर्वकर्म कृत हय॥
(चै॰च॰म॰ २२/६२)

अर्थात् कृष्णकी भक्ति करनेसे हमारा इस मनुष्य जीवनमें सब कुछ करना हो जायेगा, ऐसे सुदृढ़ निश्चयात्मक विश्वासका नाम श्रद्धा है।

श्रद्धात्वन्योपाय-वर्ज भक्त्युन्मुखी चित्तवृत्ति विशेष॥
(आम्नाय सूत्र-५७)

अर्थात् ज्ञान, कर्म, योगादि अन्यान्य सभी साधन रूपी उपायोंको त्यागकर केवल कृष्णके प्रति उन्मुख रहनेवाली चित्तवृत्ति विशेषको श्रद्धा कहते हैं।

साधुसङ्गके द्वारा भक्तिलताका बीज—श्रद्धा साधकके हृदयमें उदित होती है, श्रीचैतन्यचरितामृतके अनेक स्थलोंमें ऐसा उल्लेख है—

कृष्णभक्ति जन्ममूल हय साधुसङ्ग।
कृष्णप्रेम जन्मे, तेंहो पुनः मुख्य अङ्ग॥
(चै॰च॰म॰ २२/८०)

साधुसङ्ग ही कृष्णभक्तिका जन्मस्थान है। वही साधुसङ्ग कृष्णभक्ति (साधनभक्ति)को श्रवणकीर्त्तनके माध्यमसे सिंचनकर उसे कृष्णप्रेममें परिणित कर देता है।

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव।
गुरुकृष्ण-प्रसादे पाय भक्तिलता-बीज॥
(चै॰च॰म॰ १९/१५१)

विभिन्न ब्रह्माण्डोंमें भ्रमण करता हुआ कोई-कोई सौभाग्यवान जीव श्रीगुरु और श्रीकृष्णकी अहैतुकी कृपासे भक्तिलताके बीजस्वरूप श्रद्धाको प्राप्त करता है।

कोन भाग्ये कारो संसार क्षयोन्मुख हय।
साधु–सङ्गे तरे, कृष्णे रति उपजय॥
(चै॰च॰म॰ २२/४५)

संसारमें भ्रमण करते हुए जब किसी जीवका संसार क्षयोन्मुख होता है, तब भगवत् कृपासे साधुसङ्गकी प्राप्ति होती है। साधुसङ्गके द्वारा उसे कृष्णभक्तिके प्रति क्रमशः श्रद्धा, निष्ठा, रुचि, आसक्ति और रति उदित होती है।

कृष्ण यदि कृपा करेन कोन भाग्यवाने।
गुरु अन्तर्यामी–रूपे शिखाय आपने॥
(चै॰च॰म॰ २२/४७)

संसारमें भ्रमण करते हुए किसी भाग्यवान जीवके प्रति करुणावरुणालय श्रीकृष्णकी अहैतुकी कृपा हो जाती है, तब श्रीकृष्ण ही चैत्यगुरुके रूपमें प्रेरणा देकर तथा महान्त शिक्षा–दीक्षा गुरुके रूपमें स्वयं ही उसे भजन–शिक्षा देते हैं।

श्रद्धावान् जन हय भक्ति–अधिकारी।
उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ–श्रद्धा–अनुसारी॥
(चै॰च॰म॰ २२/६४)

श्रद्धाके तारतम्यसे ही भक्तोंका तारतम्य होता है। अर्थात् कनिष्ठ श्रद्धायुक्त भक्तको कनिष्ठभक्त, मध्यम श्रद्धायुक्त भक्तको मध्यमभक्त और उत्तम श्रद्धायुक्त भक्तको उत्तम महाभागवत कहा जाता है।

साधुसङ्गे कृष्ण–भक्ते श्रद्धा यदि हय।
भक्तिफल प्रेम हय, संसार याय क्षय॥
(चै॰च॰म॰ २२/४९)

साधक भक्तको अपनेसे उन्नत सुसिद्धान्तपूर्ण स्वजातीयाशय-स्निग्ध रसिक वैष्णवोंका सङ्ग मिलने पर उसे शीघ्र ही प्रेमभक्तिकी प्राप्ति हो जाती है और उसका संसार बन्धन अनायास ही दूर हो जाता है।

महत्कृपा बिना कोन कर्मे भक्ति नय।
कृष्णभक्ति दूरे रहु, संसार नहे क्षय॥
(चै॰च॰म॰ २२/५१)

महत्कृपाके बिना किसी भी साधनसे भक्ति नहीं हो सकती। कृष्णभक्ति होना तो दूरकी बात है, उसका पुनः-पुनः आवागमन एवं सांसारिक आसक्ति भी दूर नहीं होती।

साधुसङ्ग भगवद्भक्तिका मूल है—"कृष्णभक्ति जन्ममूल हय साधुसङ्ग।" (चै॰च॰) श्रीमद्भागवतमें ग्यारह-स्कन्धके "यदृच्छया मद्‌कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्" (११।२०।८) श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है कि पूर्व जन्मोंके सौभाग्यसे मेरी लीला-कथाओंमें जिसकी श्रद्धा उत्पन्न हुई है, वही भक्तिका अधिकारी है। यहाँ श्रीजीव गोस्वामीने उक्त श्लोकके 'यदृच्छया' शब्दका अर्थ किया है—"केनापि परम स्वतन्त्र भगवद्भक्तसङ्ग तत्कृपाजात परममङ्गलोदयेन" अर्थात् परम स्वतन्त्र भगवद्भक्तके सङ्ग द्वारा, उसी भक्तकी कृपाके फलस्वरूप जो सौभाग्य उदित हुआ है, वही भक्तिकी योग्यता प्राप्त करता है। अर्थात् सौभाग्यका तात्पर्य है कि पूर्वजन्मके साधुसङ्ग एवं साधुकी कृपासे एक संस्कार पैदा होता है, जो वर्त्तमान जन्ममें पुष्ट होकर श्रद्धाके रूपमें उदित है। यह श्रद्धा ही भक्ति उदयका कारण है।

श्रीमद्भागवतके इस प्रसंगमें कहा गया है—

सतां प्रसंगान्मम वीर्यसम्विदो, भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥
(श्रीमद्भा॰ ३/२५/२५)

अर्थात् सत्पुरुषोंके समागमसे मेरे पराक्रमोंका यथार्थ ज्ञान करानेवाली तथा हृदय और कानोंको प्रिय लगनेवाली वीर्यवती कथाएँ होती हैं। उनका सेवन करनेसे शीघ्र ही अविद्या निवृत्तिके फलस्वरूप मुझमें श्रद्धा, रति और प्रेमभक्तिका क्रमशः विकास होता है।

पूर्वोक्त सिद्धान्तके अनुसार साधुसङ्ग ही भगवद्-साम्मुख्यका द्वार-स्वरूप है। जिस साधुसङ्गके प्रभावसे बहिर्मुख जीव भगवद्-साम्मुख्य प्राप्त करता है, उसीके सङ्गसे क्रमशः श्रद्धा, रति और प्रेमका उदय होता है। जिन साधुओंमें निरन्तर भगवद् उन्मुखता नहीं है और श्रद्धा, रति, प्रेमका भाव उदित नहीं हुआ है, उनके सङ्गसे बहिर्मुख जीव भगवद् उन्मुख नहीं हो सकते अथवा उनमें श्रद्धा, रति और प्रेम उदित नहीं हो सकते। केवल वेदविधिके अनुसार सदाचार-परायण साधुसङ्गसे भगवद् उन्मुखता तथा श्रद्धा, रति और भक्ति कदापि उत्पन्न नहीं हो सकती।

ऐसा साधुसङ्ग दो प्रकारका होता है—ज्ञानमार्गमें सिद्ध महापुरुष और भक्तिमार्गमें सिद्ध महापुरुषका सङ्ग। ज्ञानी पुरुषोंके सङ्गसे श्रद्धा, रति और भक्तिका उदय होना असम्भव है। उनके सङ्गसे सांसारिक आसक्ति दूर होने पर भी भगवद्-स्वरूपके प्रति जीवमें श्रद्धा, रति और प्रेम उत्पन्न नहीं होता है। इसलिए इनका सङ्ग अप्रासङ्गिक है।

भक्तिमार्गमें सिद्ध महापुरुष भी तीन प्रकारके होते हैं—(१) भगवत्पार्षद देह प्राप्त, (२) निर्धूत कषाय और (३) मूर्च्छित कषाय।

(१) भगवत्पार्षद देह प्राप्त—उनमें से जो भक्ति सिद्ध महापुरुष पाञ्चभौतिक देहको त्यागकर भगवद् सेवोपयोगी सच्चिदानन्दमय पार्षद देह प्राप्त करता है, वे उत्तम भागवतोंमें भी श्रेष्ठ हैं। **(२) निर्धूतकषाय**—पाञ्चभौतिक शरीर रहने पर भी जिनके हृदयमें किसी प्रकारकी सांसारिक वासना या संस्कार नहीं होता, वे निर्धूत कषाय कहलाते हैं। ये उत्तम भागवतोंमें मध्यम श्रोणीके हैं। **(३) मूर्च्छित कषाय**—जिन भक्तिसिद्ध महापुरुषोंके हृदयमें सूक्ष्मरूपसे सात्त्विक वासनाएँ और संस्कार अभी अवशिष्ट होता है, किन्तु भक्तियोगके प्रभावसे वे वासनाएँ और संस्कार मूर्च्छित अर्थात् सुप्तावस्थामें रहते हैं। सुयोग मिलते ही उनके उपास्य श्रीभगवान् किसी प्रकारसे उसे भोग कराकर अपने चरणोंमें खींच लेंगे। ऐसे महापुरुष उत्तम भागवतोंमें कनिष्ठ हैं। श्रेष्ठ उत्तम भागवत देवर्षि नारद हैं। शुकदेव गोस्वामी निर्धूत कषाय उत्तम भागवत हैं। दासीपुत्र जन्ममें श्रीनारदजी मूर्च्छित कषाय उत्तम भागवतके उदाहरण हैं। इन तीनों प्रकारके महाभागवतोंका सङ्ग एवं उनकी कृपा श्रद्धा-उदयका हेतु है। यहाँ भक्तके भक्तिके तारतम्यसे उनके सङ्गके प्रभावका तारतम्य भी समझना चाहिए।

कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि गुरुपदाश्रयकी कोई आवश्यकता नहीं है। पुस्तकोंको पढ़कर स्वयं ही भजन करनेसे हानि क्या है? कुछ लोग अपने मातापिता या सम्बन्धियोंके निकट दीक्षा ग्रहणकर सद्गुरु पदाश्रयकी आवश्यकता

नहीं समझते। ये लोग ऐसा समझते हैं कि हमारे वंशमें कोई महापुरुष पैदा हुए थे, हमलोग उनके वंशज हैं। अतः हमलोग ही गोस्वामी या महापुरुष हैं, हम किसी दूसरे व्यक्तिसे दीक्षादि ग्रहण क्यों करें? किन्तु श्रीमन्महाप्रभुजीने कहा है—

किवा विप्र, किवा न्यासी, शूद्र केने नय।
येई कृष्ण तत्त्ववेत्ता, सेई 'गुरु' हय॥
(चै॰च॰म॰ ८/१२७)

श्रीमद्भागवतमें भी ऐसा कहा गया है—

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपसमाश्रयम्॥
(श्रीमद्भा॰ ११/३/२१)

अर्थात् कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यके विषयमें जिज्ञासु व्यक्ति उत्तमरूपसे कल्याण कैसे हो सकता है? यह जाननेके लिए सद्गुरुका पदाश्रय करेंगे। जो वेदादि शास्त्रोंके सुसिद्धान्तोंमें निपुण हैं, जिन्हें भगवद्नुभूति प्राप्त हुई हो और जो किसी भी मायिक क्षोभके वशीभूत नहीं हैं, वे ही सद्गुरु हैं।

तात्पर्य यह है कि शुद्धभक्ति विशिष्ट सुसिद्धान्तविद्, निर्मलचरित्र, सरल, निर्लोभ, मायावादरूपी कुसिद्धान्तरहित, भगवत्सेवाकार्योंमें सुदक्ष, निरलस, भगवन्नामपरायण व्यक्ति ही गुरु होने योग्य हैं। वे चाहे जिस किसी कुल, जाति, वर्ण और आश्रमके क्यों न हों। दूसरी ओर निरलस, श्रद्धावान्, शुद्धचरित्र, भगवद्भक्ति-अभिलाषी व्यक्ति ही शिष्य होने योग्य है। गुरु जब शिष्यको अधिकारी समझें और शिष्य भी जब

गुरुको शुद्ध कृष्णभक्त निश्चितकर उनके प्रति श्रद्धालु हों, तभी गुरु उक्त शिष्यको शिक्षा दें।

गुरु दो प्रकारके होते हैं—दीक्षागुरु और शिक्षागुरु (श्रवणगुरु और शिक्षागुरुको एक मानकर कहा गया है)। दीक्षा गुरुके निकट दीक्षा ग्रहणकर अर्चन प्रणालीकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। दीक्षा गुरु एक होते हैं। शिक्षा गुरु अनेक हो सकते हैं। शिक्षागुरु भजन-शिक्षादाता हैं। श्रीचैतन्यचरितामृतादि शास्त्रोंके अनुसार दीक्षा एवं शिक्षा गुरुमें कोई भेद नहीं समझना चाहिए। दोनों ही क्रमशः भगवद् प्रकाश या रूप और भगवद्-स्वरूप हैं। दीक्षागुरु—'गुरु कृष्णरूप हन शास्त्रेर प्रमाणे' और शिक्षगुरु—'शिक्षगुरुके त जानि कृष्णेर-स्वरूप' चैतन्यचरितामृतमें स्पष्ट कहा गया है। जगद्गुरु श्रीलभक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुरजीने इन पयारोंकी अपने अनुभाष्यमें विशद् व्याख्या की है।

कुछ लोग बिना सोचे समझे मायावादी संन्यासी अथवा वैष्णव-नामधारी-प्राकृत-सहजिया, भजन-अनभिज्ञ-कुलगुरुका चरणाश्रयकर ऐसा समझते हैं कि हमें सद्गुरुकी प्राप्ति हो गयी। साधन-भजन और साधुसङ्गादि कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं, किन्तु ऐसा समझना एक अन्धःविश्वास है। ऐसा गुरुकरण प्रेम-प्राप्तिमें सर्वथा बाधक है। सद्गुरु पदाश्रय करनेके पश्चात् भजन करते-करते शिष्य यह विचार करेगा कि अनर्थ दूर हो रहे हैं अथवा नहीं। अनर्थ एवं उसकी निवृतिके उपायका वर्णन ग्रन्थकार श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती द्वारा रचित माधुर्यकादम्बिनी ग्रन्थमें देखा जा सकता है। जो लोग भजन तो करते हैं, किन्तु अनर्थ-निवृत्तिकी चेष्टा नहीं करते, वे भजनमें अग्रसर नहीं हो सकते। अतएव उपयुक्त

रीतिसे भजन करनेसे ही साधक क्रमशः श्रद्धासे आरम्भ कर अपने लक्ष्य प्रेम तक पहुँच सकता है।

अथ भजनस्य चतुःषष्टिरङ्गानि

श्रीगुरुपादाश्रयः, श्रीकृष्ण–दीक्षा–शिक्षादि, श्रीगुरुसेवा, साधुमार्गानुसारः, भजनरीति–प्रश्नः, श्रीकृष्णप्रीतये भोगादित्यागः, तीर्थवासः, तीर्थ–माहात्म्यश्रवणञ्च, स्वभक्तिनिर्वाहानुरूपभोजनादि–स्वीकारं, एकादशी–व्रतम्, अश्वत्थ–तुलसी–धात्री–गो–ब्राह्मण–वैष्णव–सम्मानं—पूर्वदश–ग्रहणम्।

परदश–त्यागः—असाधु–सङ्ग–त्यागः, बहुशिष्य–करण–त्यागः, वह्वारम्भ त्यागः, बहुशास्त्र–व्याख्या–विवादादि–त्यागः, व्यवहारे कार्पण्यत्याग, शोक–क्रोधादि–त्यागः, देवतान्तर–निन्दा–त्यागः, प्राणिमात्रे उद्वेग–त्यागः, सेवापराध–नामापराध–त्यागः, गुरु–कृष्ण–भक्त–निन्दा सहन त्यागः।

वैष्णवचिह्न–धारणं, हरिनामाक्षर–धारणं, निर्माल्य–धारणं, नृत्यं, दण्डवत्–प्रणामं, अभ्युत्थानम्, अनुव्रज्या, श्रीमूर्त्ति–स्थाने गमनं, परिक्रमा, पूजा, परिचर्या, गीतं, संकीर्त्तनं, जपः स्तवपाठः, महाप्रसाद–सेवा, विज्ञप्तिः, चरणामृत–पानं, धूप–माल्यादि–सौरभ–ग्रहणं, श्रीमूर्त्ति–दर्शनं, श्रीमूर्त्ति–स्पर्शनम्, आरात्रिक–दर्शनं, श्रवणं, तत्कृपापेक्षणं, स्मरणं, ध्यानं, दास्यं, सख्यम्, आत्मनिवेदनं, निजप्रियवस्तु–समर्पणं, कृष्णार्थे समस्त–कर्म–करणम्।

सर्वथा शरणापत्तिः, तुलसीसेवा, वैष्णवशास्त्र–सेवा, मथुरा–मण्डले वासः, वैष्णव–सेवा, यथाशक्ति दोलादि–महोत्सव–करणं; कार्त्तिक–व्रतं, सर्वदा हरिनाम–ग्रहणं, जन्माष्टमीयात्रादिकञ्च, एवं ऊनषष्टि भक्त्प्रंगानि; अथ तत्र पञ्च अङ्गानि सर्वतः श्रेष्ठानि यथा—श्रीमूर्त्ति–सेवा–कौशलं, रसिकैः सह श्रीभागवत–

अर्थास्वादः, सजातीय–स्निग्ध–महत्तर–साधुसङ्गः, नाम–संकीर्त्तनं, श्रीवृन्दावन–वासः। एवं मिलित्वा चतुःषष्ट्यङ्गानि॥४॥

कृष्ण–दीक्षादीति—दीक्षापूर्वकशिक्षणमित्यर्थः। श्रीकृष्णेति—श्रीकृष्णप्राप्ते र्यो हेतुः कृष्ण–प्रसादस्तदर्थमित्यर्थः। आदिग्रहणाल्लोक–वित्त–पुत्रादयो गृह्यन्ते। सेवानामापराधेति—सेवानामापराधानामुद्भवः साधकस्य प्रायोभवत्येव, किन्तु पश्चात् यत्नेन तेषामभावकारिता।

भजनके चौंसठ अङ्ग

श्रीबिन्दु–विकाशिनी–वृत्ति—

(१) श्रीगुरुपदाश्रय

भक्ति प्रतिपादक समस्त शास्त्रोंमें श्रीगुरुकी अनन्त महिमाका वर्णन किया गया है। बिना सद्‌गुरु–चरणाश्रयके भगवद्–भजन राज्यमें प्रवेश असम्भव है। इसीलिए भक्तिके अङ्गोंमें सर्वप्रथम सद्‌गुरुपदाश्रयका उल्लेख किया गया है। भगवद्भक्तिकी इच्छा रखनेवाले श्रद्धालु व्यक्तियोंको भगवत् प्रतिपादक शास्त्रोंके यथार्थ उपदेष्टा तथा भगवन्मन्त्रके उपदेष्टा श्रीगुरुचरणोंका ही आश्रय लेना कर्त्तव्य है। ऐसे सद्‌गुरुकी कृपासे ही समस्त प्रकारके अनर्थ अनायास ही दूर हो जाते हैं तथा भगवान्‌का परम–अनुग्रह भी प्राप्त हो जाता है। श्रीगुरुकृपासे समस्त अनर्थोंका विनाश हो जाता है। इसका श्रील जीव गोस्वामीने (भक्तिसन्दर्भ–२३७) विभिन्न शास्त्रीय प्रमाणोंके द्वारा प्रतिपादन किया है। ब्रह्माजीकी उक्तिसे भी इसका प्रतिपादन होता है—

यो मन्त्रः स गुरुः साक्षात् यो गुरुः स हरिः स्वयं।
गुरुर्यस्य भवेत् तुष्टस्तस्य तुष्टो हरिः स्वयम्॥

अर्थात् जो मन्त्र है, वही गुरु है और जो गुरु है, वे साक्षात् हरि हैं। वे गुरु जिस पर प्रसन्न होते हैं, स्वयं हरि भी उन पर प्रसन्न हो जाते हैं। अन्यत्र भी ऐसा देखा जाता है—

हरौ रुष्टे गुरुस्त्राता, गुरौ रुष्टे न कश्चन।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरुमेव प्रसादयेत्॥

अर्थात् श्रीहरि रुष्ट होने पर श्रीगुरुदेव रक्षा कर सकते हैं, किन्तु श्रीगुरुदेव रुष्ट होने पर कोई भी रक्षा नहीं करता। अतएव कायिक, वाचिक और मानसिक सर्वप्रकारके प्रयत्नोंसे श्रीगुरुदेवको प्रसन्न करना चाहिए। ग्रन्थकर्त्ता श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने भी कहा है—

यस्य प्रसादाद्भगवत्प्रसादो यस्याप्रसादान्न गतिः कुतोऽपि।

अर्थात् जिनकी प्रसन्नता ही भगवान्‌की प्रसन्नता है और जिनके अप्रसन्न होने पर कहीं भी गति नहीं है, उन श्रीगुरुदेवका मैं त्रिसंध्याओंमें ध्यान, स्तवन एवं नमन करता हूँ।

गुरु कैसा होना चाहिए? इसके लिए श्रीमद्भागवत एकादश-स्कन्धमें कहा गया है—

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपसमाश्रयम्॥
(श्रीमद्भा॰ ११/३/२१)

श्रीलजीव गोस्वामीने 'शाब्दे परे च निष्णातं'का अर्थ—'शाब्दे ब्रह्मणि वेदे तात्पर्य विचारेण निष्णातं तथैव निष्ठां प्राप्तम्,

परे ब्रह्मनिभगवदादिरूपाविर्भावेस्तु अपरोक्षानुभवेन' अर्थात् जो शब्दब्रह्मरूप वेदोंके तात्पर्य निर्धारणमें सुनिपुण हैं, परब्रह्मकी साक्षात्रूपसे अनुभूति सम्पन्न हैं तथा सर्वप्रकारकी अपेक्षाओंसे शून्य हैं, उनको ही साध्य और साधन तत्त्वको जाननेके लिए श्रवणके रूपमें आश्रय करना चाहिए। इसी प्रकार श्रुतियोंमें भी ऐसा कहा गया है—'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत समितपाणि श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् (मुण्डक १/२/१२) अर्थात् भगवत्तत्त्व वस्तुका विज्ञान (प्रेमभक्तिसहितज्ञान) प्राप्त करनेके लिए कल्याणकामी व्यक्तियोंको हाथमें उपहार लेकर वेद-तात्पर्यज्ञ और कृष्णतत्त्वविद् सद्गुरुके समीप तन, मन और वचनके साथ गमन करना चाहिए।

यहाँ श्रीलजीवगोस्वामीने भगवत्तत्त्व उपदेशकोंको दो प्रकारका बतलाया है—सराग और नीराग। धनके लोभी और भोगसुखोंकी कामना रखनेवाले उपदेशकोंको सराग वक्ता कहते हैं। इन उपदेशकोंका प्रभाव स्थायी नहीं होता। सरस एवं सारग्राही परम भगवद्भक्त ही नीराग वक्ता हैं। उपर्युक्त श्लोक ऐसे नीराग वक्ताके सम्बन्धमें ही समझना चाहिए।

श्रीलजीवगोस्वामीने भक्तिसन्दर्भमें श्रीगुरुतत्त्वके विवेचनमें तीन प्रकारके गुरुओंका उल्लेख किया है—श्रवणगुरु, शिक्षागुरु और दीक्षागुरु।

(१) **श्रवणगुरु—**जिनसे भक्त, भक्ति और भगवत्तत्त्वादिके सम्बन्धमें श्रवण किया जाता है, वे श्रवण गुरु हैं। श्रीमद्भागवत एकादश-स्कन्ध (११/३/२२)में निमि-नवयोगेन्द्र सम्वादमें कहा गया है—

तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः।
अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्मात्मदो हरिः॥

अर्थात् साधक भक्तिको निष्कपट और अनुगत होकर भगवान्के प्रिय तथा भगवत्तत्त्व ज्ञाता श्रीगुरुदेवके निकट उस भागवत् धर्मकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। जिसका अनुष्ठान करनेसे भगवान् श्रीहरि अपने आपको भी दे देते हैं। इस प्रकारकी भजन-शिक्षा देनेवाले ही श्रवणगुरु कहलाते हैं। श्रवणगुरु बहुत हो सकते हैं, तो भी उनमें से अपने भवानुरूप एक महत्पुरुषको ही भजनशिक्षाके लिए आश्रय करना कर्त्तव्य है।

(२) शिक्षागुरु—ऐसे योग्यतासम्पन्न अनेक श्रवण-गुरुओंमें से अपने भावोंके अनुकूल जो भजन-शिक्षा देते हैं, उन्हें शिक्षागुरु कहते हैं। शिक्षागुरु भी बहुत हो सकते हैं, फिर भी अपने भावोंके अनुकूल विशेषरूपसे एक ही शिक्षागुरु होना उपयोगी होता है। श्रवणगुरु और शिक्षागुरु प्रायः एक व्यक्ति ही हआ करते हैं—'अथ श्रवण-गुरु भजनशिक्षागुर्वोः प्रायकमेकत्वमिति॥' (भक्तिसन्दर्भ २०/६) पूर्वोक्त 'तस्माद् गुरुं प्रपद्येत्', 'तत्र भगवतान् धर्मान् शिक्षेद्', 'तद्विज्ञानार्थं' आदि श्लोक श्रवण एवं शिक्षागुरुके सम्बन्धमें जानने चाहिए।

(३) दीक्षागुरु—जो विधियोंके अनुसार उपासनाका मन्त्र प्रदान करते हैं, उन्हें दीक्षागुरु या मन्त्रगुरु कहते हैं। दीक्षागुरुमें पूर्वोक्त महत्पुरुषोंके लक्षण तथा सद्गुरुके सम्बन्धमें बतलाये गये लक्षण-समूह होने चाहिए। दीक्षागुरु वेदके तात्पर्य-निर्णयमें पारंगत, कुशलवक्ता, भगवान्की प्रत्यक्ष अनुभूतियुक्त तथा विषयोंसे परम विरक्त आदि गुणोंसे सम्पन्न होने चाहिए। अन्यथा होने पर शिष्यकी श्रद्धा डगमगा सकती है। ऐसे दीक्षागुरु एक होते हैं। शिक्षागुरु भी दीक्षागुरुके अनुरूप ही होने चाहिए अन्यथा साधनमें बाधा उत्पन्न हो

सकती है। अधिकांश दीक्षागुरु ही शिक्षागुरुका कार्य करते हैं। उनकी अनुपस्थितिमें पूर्वोक्त भक्त-भागवतको शिक्षागुरुके रूपमें ग्रहण करना चाहिए।

सद्गुरु-परित्यागकी विधि नहीं है; किन्तु वैष्णव-विद्वेषी, शास्त्र-विद्वेषी, भक्ति-विद्वेषी, भोगविषयोंमें लिप्त, कर्त्तव्याकर्त्तव्य विवेकरहित, मूढ़, शुद्धभक्तिके अतिरिक्त इतरपन्थके अनुगामी गुरुको परित्यागकर पुनः विधिपूर्वक वैष्णवगुरुसे दीक्षा लेनेकी विधि शास्त्रोंमें देखी जाती है—

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते॥
(महाभारत उद्योगपर्व० १७९/२५)

अवैष्णवोपदिष्टेन मन्त्रेण निरयं व्रजेत्।
पुनश्च विधिना सम्यग् ग्राहयेद्वैष्णवाद् गुरोः॥
(ह०भ०वि० ४/१४४)

अर्थात् अवैष्णव गुरुसे मन्त्र ग्रहण करनेवाला व्यक्ति नरकगामी होता है। इसलिए पुनः विधिपूर्वक वैष्णवगुरुसे दीक्षामन्त्र ग्रहण करना चाहिए।

(२) श्रीकृष्ण-दीक्षा-शिक्षादि

भगवद्भजनमें प्रवेश करनेके लिए दीक्षा और शिक्षा ग्रहण करनेकी अत्यन्त आवश्यकता है। हरिभक्तिविलासमें दीक्षाके सम्बन्धमें कहा गया है—

दिव्यं ज्ञानं यतो दद्यात् कुर्यात् पापस्य संक्षयम्।
तस्माद्दीक्षेति सा प्रोक्ता देशिकैस्तत्त्वकोविदैः॥
(हरिभक्तिविलास २/७ धृत विष्णुयामलवाक्य)

अर्थात् जो अनुष्ठान दिव्य ज्ञान प्रदान करता है तथा पाप, पापबीज और अविद्या आदिका समूल ध्वंस कर देता है, उसे भगवत्तत्त्वविद् पण्डितजन दीक्षा कहते हैं। इसलिए श्रद्धालु साधक श्रीगुरुदेवके चरणोंमें सर्वस्व निवेदन करते हुए प्रणाम करेंगे तथा उनसे विधि-विधानके अनुसार वैष्णवमन्त्रके द्वारा दीक्षा ग्रहण करेंगे। यहाँ दिव्यज्ञानका तात्पर्य है कि जीव कोई प्राकृत पदार्थ नहीं है, जीव सच्चिदानन्द कृष्णस्वरूपका अणु चिद्पदार्थ है। इस नाते जीवमात्र ही भगवान्‌का नित्यदास है। "जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्यदास" श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी ऐसा ही कहा गया है। स्वरूपतः नित्यभवद्दास होते हुए भी जीव अपनी भगवद्-विमुखताके कारण अनादिकालसे विभिन्न योनियोंमें भटकता हुआ त्रितापोंसे दग्ध हो रहा है। करुणावरुणालय भगवान् या भक्तोंकी अहैतुकी कृपासे वह साधुसङ्ग प्राप्त करता है। उस साधुसङ्गके प्रभावसे श्रीगुरुदेवके चरणोंमें आत्मनिवेदन करता है। श्रीगुरुदेव कृष्णमन्त्रके द्वारा उसकी विमुखताको दूरकर भगवद्-भजनमें उन्मुख कराते हैं, उसे भगवत्तत्त्व, जीवतत्त्व एवं मायातत्त्वका सम्बन्ध ज्ञान प्रदानकर उसकी सोयी हुई उन्मुखताको पुनः प्रकाश कर देते हैं, जिससे साधकका पाप, पापबीज और अविद्या जड़से दूर हो जाती है। यह दीक्षा एक ही दिनमें नहीं होती; बल्कि दीक्षाके दिनसे यह प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। श्रीलजीवगोस्वामीने भक्तिसन्दर्भ (संख्या २८३)में दिव्यज्ञानका तात्पर्य इस प्रकार लिखा है—"दिव्यं ज्ञानं ह्यत्र मन्त्रे भगवत्स्वरूप ज्ञानम्, तेन भगवता सम्बन्ध-विशेष ज्ञानञ्च।" अर्थात् मन्त्रमें भगवद् स्वरूपका ज्ञान तथा भगवद् स्वरूपके साथ साधक जीवके सम्बन्ध विशेषका ज्ञान ही

दिव्य ज्ञान कहलाता है। भगवान् और जीवमें सेवक और सेव्यका सम्बन्ध है। भगवान् सेव्य एवं जीव सेवक है—यह साधारण सम्बन्ध है। उन्नतावस्थामें वही सम्बन्ध दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर भावोंमें से किसी एकके रूपमें उदित होता है। श्रीगुरुदेव साधकके स्वरूपगत भावको जानकर उसके हृदयमें उसी भावको परिस्फुट कर देते हैं। हरिभक्तिविलासमें कहा गया है—

यथा काञ्चनतां याति कांस्यं रसविधानतः।
तथा दीक्षा-विधानेन द्विजत्वं जायते नृणाम॥

(तत्त्वसागर-वचन)

अर्थात् जिस प्रकार किसी विशेष रसायनिक प्रक्रियाके द्वारा काँसा सोना बन जाता है, उसी प्रकार वैष्णवी दीक्षा विधानके द्वारा मनुष्यमात्र विप्रत्व लाभ कर लेता है। श्रीलसनातन गोस्वामीने इस श्लोकके 'नृणाम्' पदसे दीक्षित व्यक्तिमात्र ही अर्थ किया है। अर्थात् जो मनुष्य दीक्षा लाभ करता है, वह द्विज बन जाता है। 'द्विजत्वं' पदका अर्थ ही उन्होंने ब्राह्मणसे किया है अर्थात् वह ब्रह्मको जान लेता है। यहाँ पर द्विजत्वका तात्पर्य क्षत्रिय और वैश्य आदिकी भाँति द्विजत्वसे नहीं। दीक्षाविधानके द्वारा शिष्यका पुनर्जन्म होता है, जिसे दैक्ष जन्म कहते हैं। जन्म तीन प्रकारके होते हैं—(१) माता-पिताके द्वारा 'शौक्र', (२) उपनयनके द्वारा 'सावित्र' जन्म और (३) दीक्षा विधिके द्वारा 'दैक्ष' जन्म होता है। अत्यन्त निम्न कुलमें जन्म लेनेवाला शूद्र या अन्त्यज व्यक्ति भी पाञ्चरात्रिक विधानके द्वारा दीक्षित होने पर द्विजत्व संस्कार लाभ करता है—

एतैः कर्मफलैर्देवि न्यून जाति कुलोद्भवः।
शूद्रोऽप्यागमसम्पन्नो द्विजो भवति संस्कृतः॥
(महाभारत अनु॰ शा॰ पर्व॰ १४३/४६)

स्कन्दपुराणके रुक्मांगद रोहिणी संवादमें भी ऐसा कहा गया है—

अदीक्षितस्य वामोरु कृतं सर्वं निरर्थकम्।
पशुयोनिमवाप्नोति दीक्षा विरहिती जनः॥

अर्थात् हे वामोरू! बिना दीक्षा ग्रहण किये मनुष्योंके समस्त शुभकर्म निरर्थक हैं। दीक्षाविहीन व्यक्ति पशुयोनिको प्राप्त होता है। श्रील जीवगोस्वामीने भक्तिसन्दर्भमें कहा है कि जिस प्रकार उपनयन संस्कार-विहीन द्विज-सन्तानको भी शास्त्राध्ययन और यज्ञादिमें अधिकार नहीं है, उसी प्रकार दीक्षाके बिना मन्त्र देवताके अर्चन पूजनका भी अधिकार नहीं होता।

यद्यपि भगवन्नाम-माहात्म्यके स्म्बन्धमें शास्त्रोंमें ऐसा देखा जाता है कि भगवन्नाममें इतनी शक्ति है कि दीक्षा सत्क्रिया एवं पुरश्चर्या आदि विधियोंके बिना भी जिह्वाके स्पर्शसे ही हरिनाम फल प्रदान करनेमें समर्थ हैं—

नो दीक्षां न च सत्क्रियां न च पुरश्चर्य्यां मनागीक्षते।
मन्त्रोऽयं रसनास्पृगेव फलति श्रीकृष्णनामात्मकः॥
(पद्यावली २९धृत श्रीधरस्वामिकृत श्लोक)

इस विषयमें श्रील जीवगोस्वामी भक्तिसन्दर्भ (२८३)में ऐसा कहते हैं कि ऐसा होने पर भी पूर्व-पूर्व श्रीनारदादि पूर्व-पूर्व महाजनोंने जैसे श्रीगुरुदेवके निकट दीक्षा आदि ग्रहण

करके अपना साधन भजन (अपने इष्टदेवकी पूजा आदि) किया है, उसी प्रकार उन महापुरुषोंके अनुगतजनोंको भी श्रीगुरुदेवसे भगवन्मन्त्रमें दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए। क्योंकि दीक्षा ग्रहण किये बिना श्रीभगवान्के साथ दास्यादि सम्बन्धोंका उद्बोधन नहीं होता। वह सम्बन्ध केवलमात्र श्रीगुरुचरणके द्वारा ही स्थापित होता है। श्रीचैतन्य महाप्रभु और उनके अनुगत गोस्वामियों तथा उनके अनुगतजनोंमें आज तक भी दीक्षाकी रीति प्रचलित है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तीपादने यह स्पष्ट ही कहा है—"जो लोग कर्मयोग, ज्ञानयोग, जपतप आदि अन्यान्य साधनोंको छोड़कर भगवन्नाम श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण करते हैं तथा भगवान्को ही अपना इष्टदेव मानते हैं, परन्तु किसी वैष्णव-गुरुसे वैष्णव-रीतिके अनुसार दीक्षा ग्रहण नहीं करते, तो उन्हें भगवद् प्राप्ति नहीं हो सकती। केवलमात्र नरककी प्राप्ति नहीं होगी अथवा दूसरे जन्मोंमें पूर्वजन्मकृत भजनके प्रभावसे साधुसङ्ग प्राप्त करेंगे तथा गुरुचरणाश्रय, दीक्षा आदि भक्तिके क्रममार्गसे भगवद् प्राप्ति कर सकेंगे।

श्रील सानातन गोस्वामीने—

एवं श्रीभगवान् सर्वैः शालग्रामशिलात्मकः।
द्विजैः स्त्रीभिश्च शूद्रैश्च पूज्यो भगवतः परैः॥
ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशां सच्छुद्राणामथापि वा।
शालग्रामेऽधिकारोऽस्ति न चान्येषां कदाचन॥

(हरिभक्तिविलास ५/२२३-२२४ स्कन्दवचन)

उक्त श्लोककी टीकामें यथाविधि दीक्षा ग्रहण करने पर ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय, स्त्री और शूद्र सभी लोग शालग्राम शिला रूपी भगवान्की पूजा करनेके अधिकारी बन जाते

हैं—शत्शूद्रका तात्पर्य दीक्षाप्राप्त शूद्रसे है। दीक्षाप्राप्त करने पर शूद्र, शूद्र नहीं रहता। शास्त्रोंमें कहीं-कहीं स्त्री और शूद्रोंके लिए शालग्राम शिला सेवाके निषेध वाक्य देखे जाते हैं, किन्तु दीक्षित व्यक्तिके लिए यह निषेध वचन नहीं हैं—अदीक्षितके लिए समझना चाहिए। "यथाविधि दीक्षाः गृहीत्वा भगवत्पूजापरैः सद्भिरिइत्यर्थः।"

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुमें श्रीमद्भागवतके ११/३/२२ श्लोकको उद्धृत करते हुए कहा है—

तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः।
अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्मात्मदो हरिः॥

आर्थात् श्रीगुरुदेवको अपना हितकारी परम बान्धव और परमाराध्य हरि-स्वरूप जानकर निरन्तर निष्कपट होकर उनका अनुसरण करना चाहिए तथा उनसे उस भगवत्धर्मकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, जिसके अनुशीलनसे आत्मप्रद-हरि सन्तुष्ट हो जाते हैं।

(३) प्रीतिपूर्वक गुरुसेवा

श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णने स्वयं उद्धवजीसे कहा है कि आचार्यको मेरा ही स्वरूप समझो, कभी उनकी अवज्ञा मत करो, उनको साधारण मनुष्य समझकर उनमें दोष दर्शन नहीं करना चाहिए, क्योंकि श्रीगुरुदेव सर्वदेवमय हैं, जो अनर्थ-समूह बड़े-बड़े कठोर साधनोंसे दूर नहीं होते, वे सभी श्रीगुरुदेवकी निष्कपट सेवासे अनायास ही दूर हो जाते हैं। "यस्य प्रसादाद्भगवत्प्रसादो, यस्याप्रसादान्न गति कुतोऽपि" जिनकी कृपा ही भगवत्कृपा है। भगवान्के अप्रसन्न होने पर भी गुरु उन्हें प्रसन्न कर लेते हैं, किन्तु श्रीगुरुदेवके रुष्ट होने पर

श्रीभगवान् भी उस अपराधी व्यक्तिको कभी क्षमा नहीं करते। अतः श्रीगुरुदेवको अपना परम बान्धव समझकर प्रीतिपूर्वक उनकी सेवा करनी चाहिए।

कुछ अतत्त्वज्ञ व्यक्ति केवलमात्र गुरुको ही भगवान् मानकर सेवा करते हैं। वे भगवद्सेवा या भजनकी पृथक् रूपसे कोई आवश्यकता नहीं समझते। यहाँ तक कि वे लोग श्रीगुरुके चरणोंमें तुलसी आदि भी अर्पण करते हैं। ऐसा विचार शास्त्रविरुद्ध है। शास्त्रोंके अनुसार श्रीभगवान्में जैसी पराभक्ति होती है श्रीगुरुके चरणोंमे भी वैसी ही भक्ति होनी चाहिए। अन्यथा उसका साधन–भजन सब कुछ निष्फल हो जाता है।

यस्य देवे पराभक्ति यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मनः॥
(श्वेताश्वतर ६।२३)

(४) साधुमार्गका अनुसरण

जिस किसी उपायसे कृष्णके चरणोंमें मन लगाया जाय, उसे साधन भक्ति तो कहा जा सकता है। परन्तु पूर्व महाजनोंने जिस मार्गका अनुसरण कर भगवत्प्राप्ति की है, उसी मार्गका अनुसरण करना कर्त्तव्य है। इसका कारण यह है कि वह मार्ग सर्वथा दुःखरहित, श्रमरहित एवं समस्त कल्याणका हेतु होता है—

स मृग्यः श्रेयसां हेतुः पन्थाः सस्तापवर्जितः।
अनवाप्तश्रमं पूर्वे येन सन्तः प्रतस्थिरे॥
(भ॰र॰सि॰ १/२/१०० धृत स्कन्दवचन)

कोई भी पन्थ किसी एक व्यक्तिके द्वारा सुन्दररूपसे नहीं होता। पूर्व-पूर्व महाजनोंने एकके बाद दूसरेने क्रमशः उस भक्तियोग पथको साफ-सुथरा एवं निष्कण्टक बनाया है, उस पथकी छोटी-मोटी समस्त विघ्नबाधाओंको दूरकर उसे सहज और निर्भय बनाया है, इसीलिए उसी मार्गका अवलम्बन करना ही कर्त्तव्य है—श्रुति, स्मृति, पुराण और पञ्चरात्र—इन शास्त्रोंकी विधियोंका उल्लंघनकर यदि हरिकी ऐकान्तिकी अर्थात् अनन्या भक्ति भी की जावे, तो उस भक्तिसे कभी भी कल्याण नहीं हो सकता। बल्कि उसे उत्पातका हेतु ही समझना चाहिए—

श्रुति-स्मृति-पुराणादि-पञ्चरात्र-विधिं बिना।
ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते॥

ब्रह्मयामल (भ॰र॰सि॰)

अब प्रश्न उठता है कि हरिके प्रति अनन्या भक्ति उत्पातका कारण कैसे हो सकती है? इसके उत्तरमें कहते हैं—शुद्धभक्तिका ऐकान्तिक भाव अर्थात् अनन्य भाव पूर्व-महाजन-पथका अवलम्बन करनेसे ही प्राप्त हीता है। पूर्व महाजन पथको छोड़कर किसी दूसरे पथकी सृष्टि करनेसे ऐकान्तिक भाव प्राप्त नहीं होता। इसीलिए दत्तात्रेय, बुद्ध आदि अर्वाचीन प्रचारकगण शुद्धभक्तिको समझ न सकनेके कारण उसके कुछ-कुछ भावाभासको ग्रहण कर किसीने मायावादमिश्र, किसीने नास्तिकतामिश्र एक-एक शुद्ध पन्थका प्रदर्शनकर उसीमें ऐकान्तिकी हरिभक्तिका आरोप किया है, परन्तु वास्तवमें उनलोगोंके द्वारा प्रवर्तित पथ हरिभक्ति नहीं है—उत्पात विशेष है। रागमार्गीय भजनमें

श्रुति–स्मृति–पुराण और पञ्चरात्रादि विधियोंकी अपेक्षा नहीं रहती, वहाँ तो केवल व्रजजनानुगमनकी ही अपेक्षा होती है, किन्तु विधिमार्गके अधिकारी साधकोंको ध्रुव–प्रह्लाद–नारद–व्यास–शुकादि महाजनों द्वारा निर्दिष्ट एकमात्र भक्तिपथका अवलम्बन करना ही आवश्यक है। विशेषतः कलियुगपावनावतारी, राधाभाव–द्युति–सुवलित श्रीशचीनन्दन गौरहरिके परिकर श्रीरूप, सनातन, रघुनाथदास गोस्वामी आदि परवर्ती महाजनोंके पथका अनुसरण करना और भी अधिक कल्याणप्रद है। अतएव वैध भक्तोंके लिए साधुमार्ग अनुसरणके अतिरिक्त कोई भी दूसरा उपाय नहीं है।

(५) भजन–रीति–नीति आथवा सद्धर्मकी जिज्ञासा विषयक प्रश्न

सद्धर्मका अर्थ सच्चा धर्म अथवा सच्चे साधुओंका धर्म है। उन्होंने भगवद् प्राप्तिके लिए जिन रीति–नीतियोंको अपनाया है, साधकको साधुसङ्गमें उन्हीं रीति–नीतियोंके सम्बन्धमें प्रश्न करना चाहिए। उनको समझनेके लिए अत्यन्त आग्रहपूर्वक जिज्ञासा करनेको ही सद्धर्मकी जिज्ञासा कहते हैं। नारद पञ्चरात्रमें ऐसा कहा गया है—

अचिरादेव सर्वार्थः सिध्यत्येषामभीप्सितः।
सद्धर्मस्यावबोधाय येषां निर्वन्धिनी मतिः॥
(भ॰र॰सि॰ १/२/१०३)

अर्थात् भक्तिकी रीति–नीति रूप सद्धर्मको जाननेके लिए जिनकी मति अतिशय आग्रहयुक्त है, उनके सर्वाभीष्टकी अत्यन्त शीघ्र ही सिद्धि होती है।

(६) कृष्णार्थे अखिल भोग–त्याग

आहार–विहार आदि द्वारा सुख भोगनेका नाम भोग है। यह भोग प्रायः भजन–विरोधी होता है। कृष्ण–भजनके उद्देश्यसे ऐसे–ऐसे भोगोंका परित्याग करनेसे भजन सुलभ होता है। मद्यपान करनेवाले व्यक्तिकी तरह भोगोंमें आसक्त व्यक्ति भोगोंको भोगनेमें इस प्रकार लिप्त रहता है कि वह शुद्धभजन नहीं कर सकता। अतएव केवल भगवद् प्रसादका ही सेवन करना चाहिए। सेवाके उपयोगी शरीरकी रक्षा करना भी कर्त्तव्य है। एकादशी, जन्माष्टमी, रामनवमी, फाल्गुनी गौरपूर्णिमा, नृसिंह चतुर्दशी आदिके दिन समस्त प्रकारके भोगोंका त्याग करना चाहिए।

(७) तीर्थवास एवं तीर्थ–माहात्म्यका श्रवण

जिन–जिन स्थनोंमें भगवान्‌की जन्मादि लीलाएँ हुई हैं, उन स्थानों और गङ्गा–यमुनादि पुण्य–सलिला नदियोंके निकट वास करनेसे निष्ठा उत्पन्न होती है। श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुमें तीर्थोंमें निवास करनेके सम्बन्ध्में कहा गया है—

संवत्सरं वा षन्मासान् मासं मासार्द्धमेव वा।
द्वारकावासिनः सर्वे नरा नार्यश्चतुर्भुजाः॥

(स्कन्द)

अहो क्षेत्रस्य माहात्म्यं समन्ताद्दशयोजनम्।
दिविष्ठा यत्र पश्यन्ति सर्वानेव चतुर्भुजान्॥

(ब्राह्म)

या वै लसच्छ्रीतुलसीविमिश्र, कृष्णांघ्रिरेन्वभ्यधिकाम्बुनेत्री।
पुनाति सेशानुभयत्र लोकान्, कस्तां न सेवेत मरिष्यमाणः?

(भ॰र॰सि॰ १/२/१०५, १०६, १०७)

अर्थात् एक वर्ष, छह महीने, एक माह या पन्द्रह दिन भी द्वारकामें वास करने से नर या नारी सभी चतुर्भुज हो जाते हैं। पुरुषोत्तम धामकी अद्भुत महिमा है। दश योजनमें फैले हुए इस धामके प्राणीमात्रको ही देवता लोग चतुर्भुज रूपमें दर्शन करते हैं।

गङ्गा, यमुना, गोदावरी इत्यादि पवित्र नदियोंके तट पर निवास करनेकी शास्त्रोंमें बड़ी महिमा बतलायी गयी है। मनोहर सौन्दर्ययुक्त तुलसीमिश्र श्रीकृष्णकी चरणरेणुके साथ सर्वथा श्रेष्ठ चरणजलको दान करनेवाली भगवती गङ्गा लोक और परलोकमें सबको पवित्र कर देती है। भला मरणोन्मुख ऐसा कौनसा व्यक्ति होगा, जो उनकी सेवा नहीं करेगा अर्थात् सबके लिए उनकी सेवा करना कर्त्तव्य है।

श्रीलभक्तिविनोद ठाकुरने जैवधर्ममें कहा है—श्रीनवद्वीप सोलह कोसके भीतर जहाँ कहीं भी वास क्यों न किया जाय, उससे वृन्दावनमें ही वास होता है। (विशेषकर मायापुरमें यदि वास किया जाय।) अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, काञ्ची, अवन्तिका और द्वारका—इन सात मोक्षदायिका पुरियोंमें यह मायापुर अतिशय प्रधान तीर्थ है। इसका कारण है कि यहाँ पर श्रीमन्महाप्रभुने अपने नित्यधाम श्वेतद्वीपको अवतीर्ण किया है। श्रीमन्महाप्रभुके चार शताब्दी बाद यह श्वेतद्वीप पृथ्वीके समस्त तीर्थस्थलोंकी अपेक्षा प्रधान तीर्थस्थान होगा। इस जगह वास करनेसे समस्त प्रकारके अपराध दूर हो जाते हैं तथा शुद्धाभक्ति प्राप्त होती है। श्रील प्रबोधानन्द सरस्वतीने इस धामको श्रीवृन्दावन धामसे अभिन्न बतलाकर भी किन्हीं विषयोंमें इसका माहात्म्य अधिक बतलाया है।

उपरोक्त तीर्थ-स्थानोंमें वास करनेमें असमर्थ होने पर धामका माहात्म्य श्रवण करनेसे तीर्थमें वास करनेकी प्रबल इच्छा उदित होती है तथा कालान्तरमें तीर्थमें वास करनेका सौभाग्य लाभ होता है।

(५) स्वभक्ति-जीवन-निर्वाहोपयोगी अर्थ या विषय ग्रहण करना

नारदीय पुराणमें कहा गया है—

यावता स्यात् स्वनिर्वाहः स्वीकुर्यात्तावदर्थवित्।
आधिक्ये न्यूनतायांच च्यवते परमार्थतः॥
(भ०र०सि० १/२/१०८)

अर्थात् जिस परिमाणमें नियमोंका अनुष्ठान करनेसे आपकी भक्तिका निर्वाह हो, धनवान पुरुष उसी मात्रामें धनादि ग्रहण करेंगे। क्योंकि आवश्यकतासे अधिक या अल्प ग्रहण करनेसे परमार्थसे भ्रष्ट होना पड़ता है।

वैधी भक्तिके अधिकारी वर्णाश्रम धर्मके अनुसार निर्धारित सदुपायोंके द्वारा अर्थ उपार्जन कर जीवन-निर्वाह करें, आवश्यकताके अनुसार अर्थ संग्रह करनेसे कल्याण होता है। आवश्यकतासे अधिक ग्रहण करनेकी लालसासे आसक्ति होती है, जो भजनको क्रमशः नष्ट कर देती है। आवश्यकतासे कम स्वीकार करना भी अहितकर होता है; क्योंकि ऐसा होनेसे अभाव उपस्थित होकर भजनको क्षीण कर देता है। इसलिए जब तक निरपेक्ष होनेका अधिकार प्राप्त न हो जाय, तब तक जीवन-निर्वाहोपयोगी अर्थादि स्वीकार करते हुए शुद्ध भक्तिका अनुशीलन करना चाहिए।

(९) श्रीएकादशी व्रत

शुद्धा एकादशीका नाम हरिवासर है । विद्धा एकादशीका त्याग करना चाहिए। महाद्वादशी उपस्थित होने पर एकादशी छोड़कर द्वादशीका पालन करना चाहिए। पूर्व दिन ब्रह्मचर्य, हरिवासरके दिन निरम्बु उपवास और रात्रि जागरणके साथ निरन्तर भजन और उपवासके दूसरे दिन ब्रह्मचर्य और उपयुक्त समय पर पारण करना ही हरिवासरका सम्मान करना है। महाप्रसाद त्याग किये बिना निरम्बु (जलरहित) उपवास नहीं होता। सामर्थहीन अथवा शक्तिहीनकी अवस्थामें प्रतिनिधि या अनुकल्पकी व्यवस्था है—'नक्तं हविष्यान्नं' (ह०भ०वि० १२/३९ धृत वायुपुराण) वचनोंके द्वारा अनुकल्पकी विधि है। प्रतिनिधिके द्वारा उपवासकी विधि हरिभक्तिविलास १२/३४में दी गयी है।

उपवासेत्वशक्तस्य आहिताग्नेरथापि वा।
पुत्रान् वा कारयेदन्यान् ब्राह्मणान् वापि कारयेत्॥

अर्थात् साग्निक ब्राह्मण उपवास करनेमें असमर्थ होने पर पुत्रों द्वारा अथवा ब्राह्मणों द्वारा उपवास करवायेंगे।

हविष्यान्न आदि द्वारा उपवासकी विधि हरिभक्तिविलास १२/३९धृत वायुपुराणमें है—"नक्तं हविष्यान्नमनोदनम्बा फलं तिलाः क्षीरमथाम्बुचाज्यं। यत् पञ्चगव्यं यदि वापि वायुः प्रशस्तमत्रोत्तरमुत्तञ्च॥" अर्थात् रातमें हविष्यान्न—अन्न छोड़कर दूसरे-दूसरे द्रव्य फल, तिल, दुग्ध, जल, घृत, पञ्चगव्य अथवा वायु—ये सब वस्तुएँ क्रमशः एकसे दूसरी श्रेष्ठ है। महाभारत उद्योग पर्वके अनुसार जल, मूल, फल, दुग्ध, घृत,

ब्राह्मण कामना, गुरुवचन और औषधि—इन आठोंसे व्रत नष्ट नहीं होता—"अष्टैतान्य-व्रतह्नानि आपो मूलं फलं पयः। हविर्ब्राह्मणकाम्य च गुरोर्वचनमौषधम्॥"

हरिवासरसे एकादशी तथा जन्माष्टमी, रामनवमी, नृसिंह-चतुर्दशी, गौरपूर्णिमा आदि वैष्णव व्रतोंको भी पालन करना चाहिए। चारों वर्ण और चारों आश्रमके स्त्री-पुरुष, सबके लिए एकादशी पालनका विधान हरिभक्तिविलासमें दिया गया है। स्त्रियोंमें विधवा और सधवा सबके लिए एकादशी पालनीय है। एकादशीके दिन अन्नभोजनसे गोमाँस भोजनका पाप लगता है। प्रत्येक माहकी दोनों पक्षोंकी एकादशीका विधिवत् पालन करना चाहिए।

सपुत्रश्च सभार्यश्च स्वजनैर्भक्तिसंयुतः।
एकादश्यामुपवसेत् पक्षयोरुभयोरपि॥
(ह॰भ॰वि॰ १२/१९)

यहाँ स्वभार्याका तात्पर्य पत्नीके साथ व्रतका पालन करनेका विधान दिया गया है। इसके द्वारा सधवा स्त्रियोंको भी एकादशी व्रतपालन करनेका विधान दिया गया है। एकादशी व्रत नित्यव्रत है, इसका पालन नहीं करनेसे दोष होता है "अत्र व्रतस्थ नित्यत्वादवश्यं तत् समाचरेत्।" बल्कि दूसरे-दूसरे कामना-मूलक उपवास ही सधवा स्त्रियोंके लिए निषिद्ध हैं, एकादशी नहीं।

(१०) अश्वत्थ, तुलसी, धात्री, गो, ब्राह्मण, वैष्णव सम्मान

आँवला, पीपल, तुलसी, गो, ब्राह्मण एवं वैष्णव इनकी पूजा तथा इनको नमस्कार करनेसे मनुष्यके पाप नष्ट होते हैं।

अश्वत्थ तुलसी–धात्री–गो–भूमिसुर–वैष्णवः।
पूजिताः प्रणताः ध्याताः क्षपयन्ति नृणामघम्॥
(स्कन्दपुराण)

वैधी भक्तिका अधिकारी इस संसारमें रहकर जीवनयात्रा निर्वाहके लिए उपयोगी पीपलादि छायादार वृक्ष, आंवलादि फलयुक्त वृक्ष, तुलसी आदि भजनीय वृक्ष, गायादि उपकारी पशु, ब्राह्मण अर्थात् धर्मशिक्षक और समाजरक्षक एवं भक्तवैष्णव इन सबका पूजन और ध्यान करने तथा इनको प्रणाम करनेके लिए बाध्य है। इन कार्योंके द्वारा वे संसारकी रक्षा करें।

श्रीमद्गीतामें पीपलवृक्षको श्रीभगवान्ने अपनी विभूति बतलाया है 'अश्वत्थ सर्ववृक्षाणां' वृक्षोंमें मैं पीपल हूँ।

श्रीतुलसीके बिना भगवान् अन्न–जल आदि किसी भी पदार्थको ग्रहण नहीं करते। एकमात्र तुलसी दल एवं चुल्लूभर जलके समर्पणसे ही भगवान् अपनेको अर्पणकारीके हाथोंमें बेच देते हैं—

तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन वा।
बिक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तभ्यो भक्तवत्सलः॥
(गौतमीय–तन्त्र–वाक्य)

श्रीतुलसी सेवाके सम्बन्धमें श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु (पू॰वि॰)में मिलता है—

दृष्टा स्पृष्टा तथा ध्याता कीर्त्तिता नमिता श्रुता।
रोपिता सेविता नित्यं पूजिता तुलसी शुभा॥

अर्थात् तुलसी देवीका दर्शन, स्पर्शन, ध्यान, कीर्त्तन, प्रणाम, तुलसी–माहात्म्य–श्रवण, तुलसी–रोपण जलसिंचनादि सेवन और पूजन—ये नौ प्रकारसे तुलसीकी सेवा करनी चाहिए।

श्रीतुलसी–स्नान–मन्त्र—

गोविन्दवल्लभां देवीं भक्त–चैतन्य–कारिणीम्।
स्नापयामि जगद्धात्रीं विष्णु–भक्ति–प्रदायिनाम्॥

श्रीतुलसी–चयन–मन्त्र—

तुलस्यमृत जन्मासि सदा त्वं केशव–प्रिये।
केशवार्थे चिनोमि त्वां वरदा भव शोभने॥

श्रीतुलसी–प्रदक्षिणा–मन्त्र—

यानि कानि च पापानि ब्रह्महत्यादिकानि च।
तत्सर्वं विलयं याति तुलसि! त्वत् प्रदक्षिणात्॥

प्रणममन्त्र—

वृन्दायै तुलसीदेव्यै प्रियायै केशवस्य च।
कृष्णभक्ति प्रदे देवि! सत्यवत्यै नमो नमः॥

आँवला—स्कन्दपुराणमें आँवलाका माहात्म्य इस प्रकार दिया गया है—

धात्रीच्छायां समाश्रित्य योऽर्चयेच्चक्रपाणिनम्।
पुष्पे पुष्पेऽश्वमेधस्य पलं प्राप्नोति मानवः॥

अर्थात् आँवला वृक्षकी छायामें जो व्यक्ति चक्रपाणि भगवान्‌की पूजा करता है, उसे श्रीभगवान्‌को एक-एक पुष्प अर्पण करनेसे एक-एक अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त होता है।

गो (गाय)—गौतमीय तन्त्रमें गो माहात्म्यके सम्बन्धमें कहा गया है—

गवां कण्डुयनं कुर्यात् गोग्रासं गौ प्रदक्षिणम्।
गोषु नित्यं प्रसन्नासु गोपालोऽपि प्रसीदति॥

अर्थात् गायके अङ्गोंको खुजलानेसे, ग्रास देनेसे और उसकी प्रदक्षिणा करनेसे गायकी पूजा सम्पन्न होती है। गायके अङ्गोंमें कोटि-कोटि देवताओंका निवास है। श्रीकृष्ण भी सखाओंके साथ सर्वदा गो-सेवा करते हैं। गायका पालन करना, प्रणाम करना तथा सम्मान करना भक्तिका अङ्ग माना गया है। अपने उपकारोंके कारण गाय मानवमात्रकी माता मानी गयी है।

ब्राह्मण—ब्राह्मण भगवान्‌के अत्यन्त प्रिय हैं। जो परब्रह्म-स्वरूप श्रीकृष्ण तत्त्वको जानकर सब समय उनमें विचरण करते हैं, उन्हें ब्राह्मण कहते हैं। जो लोग ऐसे ब्रह्म तत्त्वको नहीं जानते, वे ब्राह्मण कुलमें जन्म लेने पर भी ब्राह्मण नहीं हैं। वैष्णव मात्र ही यथार्थ ब्राह्मण हैं। ऐसे ब्राह्मणों, गो-जातिकी रक्षा और समृद्धिके लिए ही भगवान्‌का अवतार होता है। ऐसे ब्राह्मणोंको भूसुर भी कहा गया है। अतः ऐसे गुणयुक्त ब्राह्मणोंको सम्मान देना साधकोंका कर्त्तव्य है।

वैष्णव—वैष्णव या भक्तोंकी महिमाका वर्णन समस्त शास्त्रोंमें प्रचुर मात्रामें पाया जाता है। बिना भगवद्भक्तसङ्गके

भक्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती और बिना भक्तिके भगवान् भी प्राप्त नहीं हो सकते। भक्ति होने पर भी भक्तोंके सङ्गमें श्रवण-कीर्त्तन न होनेसे भक्ति परिपक्व होकर भावावस्था या प्रेमावस्थामें विकसित नहीं हो सकती। श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामीने साधकोंके लिए भक्तोंकी चरणधूलि, भक्तचरणामृत तथा भक्तोंकी मुखनिःसृत वाणी या उनका उच्छिष्ट प्रसाद—इन तीनोंको महान शक्तिशाली बतलाया है; क्योंकि इनका सेवन करनेसे सहज ही साधकोंके हृदयमें भक्तिका आविर्भाव होता है।

भक्तपद धूलि आर भक्तपदजल।
भक्तभुक्त अवशेष-तिन महाबल॥
(चै॰च॰अ॰ १६/६०)

श्रील नरोत्तम ठाकुरजीने तो यहाँ तक कहा है कि वैष्णवकी चरणधूलिके द्वारा अभिषिक्त होना ही मेरे लिए स्नानकेलि है, उनका नाम जप ही मेरे लिए तर्पण है और उनका उच्छिष्ट ही मेरे लिए सर्वस्व है—

वैष्णवेर पदधूलि ताहे मोर स्नान केलि'
तर्पण मोर वैष्णवेर नाम।
वैष्णवेर उच्छिष्ट ताहे मोर मनोनिष्ठ,
वैष्णवेरना मेते उल्लास॥

स्कन्दपुराणमें कहा गया है—

हन्ति निन्दति वे द्वेष्टि वेष्णवान्नाभिनन्दति।
कुद्धते जाति नो हर्षं दर्शने पतनानि षट्॥

अर्थात् वैष्णवोंको मारना, उनकी निन्दा करना, उनसे विद्वेष करना, उनका अभिनन्दन न करना, उनके प्रति क्रोध प्रकाश करना और उनको देखकर प्रसन्न न होना—ये छह अधःपतनके कारण हैं।

(११) असाधु–सङ्ग–त्याग

भावोदित होने पर भक्ति गाढ़ी होती है। जब तक भावका उदय न हो, तब तक भक्ति–विरोधी सङ्गका परित्याग करना आवश्यक है। 'सङ्ग' शब्दसे आसक्तिका बोध होता है। अतः दूसरे लोगोंके साथ जो निकटता होती है अथवा बातचीत होती हैं, उसे सङ्ग नहीं कहते। सङ्ग तो तब होता है, जब कुछ निकटता या बातचीतमें आसक्ति होती है। भगवद्–विमुख लोगोंका सङ्ग नितान्त वर्जनीय है। भावके उदय हो जाने पर बहिर्मुख सङ्गके प्रति कभी स्पृहा नहीं होती। वैधीभक्तिके अधिकारियोंको ऐसे सङ्गसे सर्वदा दूर रहना चाहिए। पेड़–पौधे जिस प्रकार दूषित–वायुसे और अधिक गर्मीके कारण नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार कृष्ण–विमुखोंके सङ्गसे भक्तिलता भी सूख जाती है। भोगोंमें आसक्त कृष्णभक्ति रहित विषयी, स्त्रीसङ्गी (स्त्रीसङ्गमें आसक्त), मायावाद नास्तिकता दोषसे कलुषित हृदयवाले एवं कर्मजड़—ये चार प्रकारके लोग कृष्णसे विमुख हैं। इन चारों प्रकारके लोगोंका सङ्ग दूरसे परित्याग करना चाहिए।

(१२) बहुशिष्य–करण त्याग

मान प्रतिष्ठा तथा धनसंग्रहके लिए बहुत शिष्य करना भक्तिके मार्गमें एक प्रधान बाधा है। श्रील जीवगोस्वामीजीने तो यहाँ तक लिखा है कि सम्प्रदायकी वृद्धिके लिए भी

अनधिकारी अधिक लोगोंको शिष्य नहीं करना चाहिए। अनेक शिष्य बनानेके लिए ऐसे-ऐसे व्यक्तियोंको भी शिष्य करना पड़ता है, जिनके हृदयमें श्रद्धाका भी अभाव होता है। अश्रद्धालु लोगोंको शिष्य करनेसे अपराध होता है, अपने भजनमें विघ्न-बाधा उपस्थित होती है और अन्तमें नरकभोग करना पड़ता है।

(१३) बह्वारम्भ त्याग

आडम्बरपूर्ण उद्यमों या महोत्सवोंको बह्वारम्भ कहते हैं, इनका सब प्रकारसे परित्याग करना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि संक्षेपमें जीवन-निर्वाह करते हुए भगवद्भजन करना चाहिए। विराट-व्यापार आरम्भ करनेसे उसके प्रति ऐसी आसक्ति होती है कि भजनमें मन नहीं लगता। इसीलिए बह्वारम्भके त्यागकी विधि दी गयी है।

(१४) बहुशास्त्र-व्याख्या-विवादादि त्याग

शास्त्र समुद्रके समान हैं। जिस विषयकी शिक्षा लेनी है, उस विषयके ग्रन्थोंका आद्योपान्त विवेचन पूर्वक अध्ययन करना अच्छा है। अनेक ग्रन्थोंको थोड़ा-थोड़ा पढ़नेसे किसी भी विषयका पूर्ण ज्ञान नहीं होता। विशेषतः भक्तिशास्त्रोंका यदि मन लगाकर सावधानीसे अधययन न किया जाय, तो सम्बन्ध-तत्त्व-सम्बन्धी बुद्धिका उदय नहीं होता। ध्यान रहे कि ग्रन्थोंका सरल अर्थ ही लिया जाय। अर्थवाद करनेसे विपरीत सिद्धान्त हो जाते हैं। अधिक वाद-विवादसे चित्तवृत्ति विक्षिप्त हो जाती है और भजनमें मन नहीं लगता। श्रीचैतन्यमहाप्रभुजीने सनातन गोस्वामीसे कहा है—

बहुग्रन्थ कलाभ्यास-व्याख्यान वर्जिव।
(चै०च०म० २२/११४)

श्रीमद्भागवतमें भी कहा गया है—"न व्याख्यामुपयुञ्जीत"—अर्थात् शास्त्रव्याख्या, भागवतपाठको अपनी जीविका निर्वाहका उपाय नहीं बनाना चाहिए।

इससे श्रीमद्भागवतादि शास्त्रोंको बेचना हो जाता है, जो भक्ति साधनके सर्वथा प्रतिकूल है। श्रीमद्भागवतमें भी स्पष्टरूपसे इन सबका निषेध किया गया है।

न शिष्याननुवध्नीत ग्रन्थान्नैवाभ्यसेद् बहून्।
न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारम्भानारभेत् क्वचित्॥
(श्रीमद्भा० ७/१३/८)

अर्थात् भक्ति साधक अनेकों शिष्य न करें अथवा लोभादिके द्वारा अपात्र (अश्रद्धालु)को भी शिष्य न करें, अनेक ग्रन्थोंका अभ्यास न करें, शास्त्रोंकी व्याख्याको अर्थोपार्जनका व्यवसाय न बनावें तथा आडम्बरपूर्ण उद्यमोंसे दूर रहें।

(१५) व्यवहारमें कृपणताका त्याग

जीवन-यात्रा निर्वाहके लिए भोजन और आच्छादनके उपयोगी द्रव्योंका संग्रह आवश्यक है। द्रव्योंके न होने पर कष्ट होता है और मिलने पर भी नष्ट होने पर कष्ट होता है। इस प्रकार दुःखोंके उपस्थित होने पर भक्तजन घबड़ाएँ नहीं, बल्कि मन-ही-मन भगवान्का स्मरण करें। समर्थ रहने पर भी भगवत्सेवा, वैष्णवसेवा, भगवत् जन्मतिथि महोत्सव आदि कार्योंमें कृपणता नहीं करनी चाहिए। जो कुछ मिले उससे सन्तुष्ट रहकर सेवाकार्यका निर्वाह करना चाहिए।

(१६) शोक—क्रोधादिका त्याग

शोक, भय, क्रोध, लोभ और मत्सरतासे भरपूर चित्तमें श्रीकृष्णका स्फुरण नहीं होता। बन्धु-बान्धवोंके विच्छेदसे तथा कामनाओंमें बाधा पड़नेके कारण शोक, मोहादि हो सकते हैं। परन्तु उन शोक मोहादिके अधीन होकर पड़ा रहना उचित नहीं। पुत्रवियोग होने पर अवश्य ही शोक होगा, परन्तु हरि-चिन्तन द्वारा उस शोकको दूर करना आवश्यक है। इस प्रकार भगवान्‌के चरणकमलोंमें चित्तका अभ्यास करना उचित है।

(१७) अन्यान्य देवताओंकी निन्दा और अवज्ञाका त्याग

श्रीकृष्णके प्रति अनन्याभक्ति होनेकी आवश्यकता है। श्रीकृष्ण समस्त देवताओंके मूल देवता हैं। किसी भी देवताको श्रीकृष्णसे स्वतन्त्र समझकर पूजन नहीं करना चाहिए, परन्तु दूसरे लोगोंको उन देवताओंकी पूजा करते देखकर उन देवताओंकी अवज्ञा नहीं करनी चाहिए। समस्त देवताओंको श्रीकृष्णका सेवक समझकर उन्हें सम्मान देते हुए एकमात्र श्रीकृष्णका ही निरन्तर स्मरण करना चाहिए। जीवका अन्तःकरण जब तक निर्गुण नहीं हो जाता, तब तक वहाँ अनन्या-भक्ति उदित नहीं होती। जिनका चित्त (अन्तःकरण) सत्त्व, रज और तम—त्रिगुणसे आच्छादित है, वे अपने अपनेमें प्रबल रहनेवाले गुणोंके अनुसार उन-उन गुणोंवाले देवताओंकी पूजा किया करते हैं। उनके अधिकारके अनुसार ही उनकी वैसी निष्ठा होती है। इसलिए उन लोगोंके उपास्य देवताओंके सम्बन्धमें किसी प्रकारसे अनादरका भाव प्रकट नहीं करना चाहिए। उन देवताओंकी कृपासे

क्रमोन्नत्ति होते-होते उन उपासकोंका चित्त कभी निर्गुण हो जायेगा।

(१८) प्राणीमात्रको उद्वेग न देना

जो प्राणीमात्रके प्रति दयाका भाव रखते हैं और उन्हें किसी प्रकारसे भी तन-मन-वचनसे उद्वेग नहीं देते, उनके प्रति श्रीकृष्ण शीघ्र ही सन्तुष्ट होते हैं। दया वैष्णवोंका प्रधान धर्म है।

(१९) सेवापराध-नामपराध-त्याग

अर्चनके सम्बन्धमें सेवापराधका और साधारणतः भक्तिके सम्बन्धमें नामापराधका विशेष सावधानीसे वर्जन करना चाहिए। सवारी पर चढ़कर या पादुकाके साथ भगवान्‌के मन्दिरमें प्रवेशादि ३२ प्रकारके सेवापराध हैं। साधुनिन्दा, गुरुदेवकी अवज्ञा आदि १० प्रकारके नामापराध हैं। इन दोनों प्रकारके अपराधोंका अवश्य ही वर्जन करना चाहिए। इनका विस्तृत वर्णन आगे द्रष्टव्य है।

(२०) गुरु-कृष्ण-भक्त-निन्दा सहन त्याग

जैसे श्रीगुरुदेव, भगवान् और भक्तोंकी निन्दा करना अपराध है, वैसे ही उनकी निन्दा सुनना भी महत् अपराध है। सामर्थ रहने पर उक्त निन्दुकको उचित दण्ड देना कर्त्तव्य है। असमर्थ रहने पर कान बन्द कर उस स्थानको परित्याग कर वस्त्रसहित स्नान करना चाहिए। निन्दा श्रवण करनेसे भक्ति-वृत्ति क्षीण हो जाती है। जो लोग कृष्ण और वैष्णवोंकी निन्दा करते हैं, वे कृष्णविमुख अपराधीजन हैं। ऐसे लोगोंका सङ्ग सब प्रकारसे छोड़ देना चाहिए। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

निन्दां भगवतःश्रण्वंस्तत्परस्य जनस्य वा।
ततो नापैति यः सोऽपि यात्यधः सुकृताच्च्युतः॥
(श्रीमद्भा॰ १०/७४/४०)

जो लोग भगवान् अथवा भक्तोंकी निन्दा सुनकर भी उस स्थानका त्याग नहीं करते, वे अपने शुभकर्मोंसे वंचित होकर अधोगतिको प्राप्त होते हैं। यहाँ गुरुदेवको भी भक्तोंके अन्तर्गत समझ लेना चाहिए।

इनके बाद वाले ४४ अङ्ग इन पूर्वोक्त २० अङ्गोंमें ही अन्तर्भुक्त हैं, विस्तारपूर्वक समझनेके लिए इनको अलग-अलग अङ्गोंके रूपमें दिखलाया गया है। (२१) 'वैष्णवचिह्न धारण'से लेकर (५०) 'कृष्णको प्रियवस्तु समर्पण' तक ३० अङ्ग अर्चन मार्गके अन्तर्भुक्त हैं।

(२१) वैष्णवचिह्न धारण

गलेमें त्रिकण्ठी तुलसीकी माला और शरीरके द्वादश अङ्गोंमें द्वादश तिलक आदि धारण करनेका नाम वैष्णवचिह्न धारण करना है। साधक इन वैष्णवचिह्नोंको अवश्य धारण करें। श्रीहरिभक्तिविलासमें गलेमें त्रिकण्ठी तुलसीकी माला धारण करनेकी विधि बतलायी गयी है। बिना तुलसीकी माला धारण किये भगवद्-अर्चन एवं भगवदुपासनादि सब शुभ अनुष्ठान निष्फल हो जाते हैं। पद्मबीज, रुद्राक्ष, आँवला और तुलसी आदिकी माला धारण करनेकी विधि शास्त्रमें देखी जाती है, फिर भी वैष्णवोंके लिए तुलसीमाला धारण करना ही सर्वोत्तम है। तुलसी परम-पवित्र और भगवान्की अत्यन्त प्रिय है, इसलिए तुलसीमाला धारण करनेसे तन, मन, वचन और आत्मा सब कुछ पवित्र हो

जाते हैं तथा स्वाभाविकरूपमें भक्तिकी ओर प्रवृत्ति होने लगती है।

शास्त्रोंमें ऊर्ध्वपुण्ड्र और त्रिपुण्ड्र (तिर्यकपुण्ड्र) इन दो प्रकारके तिलक धारणकी विधिका वर्णन मिलता है। वैष्णवजन और श्रद्धालु ब्राह्मण लोगोंको ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करना चाहिए। ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलकको हरिमन्दिर कहते हैं। इसमें भगवान्‌का निवास होता है। द्वादश अङ्गोंमें ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करके ही संध्या–आह्निक, अर्चन–पूजन, सेवा–परिचर्या आदि करना उचित है। पद्मपुराणके अनुसार ऊर्ध्वपुण्ड्र–शून्य मानवदेहका दर्शन नहीं करना चाहिए। वह श्मशान तुल्य है। गोपीचन्दन, श्रीवृन्दावनरज, राधाकुण्डरज, तुलसीस्थलकी रज आदिसे ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक धारण करनेकी विधि शास्त्रोंमें देखी जाती है। फिर भी द्वारकामें उत्पन्न गोपीचन्दनके द्वारा ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करनेका माहात्म्य सभी शास्त्रोंमें पाया जाता है। उसके धारण करनेसे मनुष्य अपने समस्त शुभकर्मोंका अक्षय फल प्राप्त करता है। उसके द्वारा भगवान् प्रसन्न होते हैं और भगवद्–भक्तिकी प्राप्ति होती है।

यो मृत्तिकां द्वारवतीसमुद्भवां करे समादाय ललाटपट्टुके।
करोति नित्यं त्वथ चोर्ध्वपुण्ड्रं क्रियाफलं कोटिगुणं सदाभवेत॥
क्रियाविहीनं यदि मन्त्रहीनं श्रद्धाविहीनं यदि कालवर्जितम्।
कृत्वा ललाटे यदि गोपिचन्दनं प्राप्नोति तत्कर्मफलं सदाक्षयम्॥
(ह॰भ॰वि॰ ४/२३२, २३३ धृत गरुड़पुराण)

अर्थात् जो लोग द्वारकामें उत्पन्न गोपीचन्दनको लेकर अपने ललाट–प्रदेश पर प्रतिदिन ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करते हैं, उनके सभी कार्योंका फल करोड़ों–गुणा बढ़ जाता है। यदि

वह कर्म क्रियारहित, मन्त्रशून्य अथवा श्रद्धारहित अथवा कालवहिर्भूत भी हों, तथापि ललाटमें गोपीचन्दन धारण करनेसे अक्षयफल प्रदान करते हैं।

(२२) हरिनामाक्षर धारण

हरेकृष्ण आदि नाम अथवा पञ्चतत्त्वोंके नामादि चन्दनके द्वारा अपने श्रेष्ठ अङ्गों पर धारण करनेका नाम हरिनामाक्षर धारण है।

(२३) निर्माल्य धारण

भगवदर्पित वस्त्र, माला, चन्दन, गन्ध, अलङ्कार आदि वस्तुओंको ग्रहण करना ही निर्माल्य धारण है। इसके द्वारा सहज ही माया पर विजय प्राप्तकर भगवद्भक्तिमें प्रवेश होता है। श्रीमद्भागवतमें उद्धवजीने कहा है—

त्वयोपभुक्त-स्रग्-गन्ध-वासोऽलङ्कार-चर्चिताः।
उच्छिष्ट-भोजिनो दासास्तव मायां जयेम हि॥
(श्रीमद्भा॰ ११/६/४७)

अर्थात् हे भगवन्! आपकी धारण की हुई माला पहनी, आपका लगाया हुआ चन्दन लगाया, आपके उतारे हुए वस्त्र पहने और आपके उतारे हुए गहनोंसे अपने आपको सजाते रहे। हम आपकी झूठन खाने वाले सेवक हैं। इसलिए हम आपकी माया पर अवश्य ही विजय प्राप्त कर लेंगे। इसके द्वारा यह स्पष्ट होता है कि भगवत्प्रसादी वस्तुओंको धारण करनेसे मायाका डर नहीं रहता, इसलिए साधकोंको भगवद् निर्माल्य धारण करना कर्त्तव्य है।

(२४) भगवान्के सामने नृत्य

साधकोंको श्रीभगवद् विग्रहके सम्मुख भक्तिभावसे नृत्य करना चाहिए। श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुमें द्वारका माहात्म्यमें कहा है—

यो नृत्यति प्रहृष्टात्मा भावै बहुसु भक्तितः।
स निर्दहति पापानि मन्वन्तरशतेष्वपि॥
(भ०र०सि० १/२/१२७)

जो लोग आनन्दित मनसे बहुत प्रकारसे भाव भक्तिके साथ नृत्य करते हैं, वे सैकड़ों मन्वन्तरोंमें उत्पन्न अपने सभी पापोंको पूर्णरूपसे नष्ट कर देते हैं।

(२५) दण्डवत् प्रणाम

श्रीभगवद् विग्रहको बायें रखकर दण्डवत् प्रणाम करना चाहिए। श्रीगुरुदेवके सामने दण्डवत् प्रणाम करना चाहिए। दण्डकी भाँति पृथ्वी पर गिरकर दोनों हाथ सामने कर साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करना चाहिए। जिसमें दोनों हाथ, दोनों चरण, दोनों घुटने, वक्षःस्थल, मस्तक, दृष्टि, मन और वाक्य—इन अष्ट अङ्गोंके द्वारा प्रणामको अष्टाङ्ग प्रणाम कहा जाता है। पञ्चाङ्ग अर्थात् दोनों घुटने, दोनों बाहु, मस्तक, वाक्य और बुद्धिके द्वारा भी प्रणामकी विधि है।

श्रीनारदीय पुराणमें भगवद्प्रणामका माहात्म्य इस प्रकार कहा गया है—

एकोऽपि कृष्णाय कृतः प्रणामो, दशाश्वमेधावभृथैर्न तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म, कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥
(भ०र०सि० १/२/१२९)

अर्थात् श्रीकृष्णको एक बार मात्र प्रणाम करनेसे उसका इतना अधिक फल होता है कि उसकी तुलना दशपूर्ण अश्वमेध यज्ञोंसे भी नहीं की जा सकती; क्योंकि दशाश्वमेध यज्ञ करनेवालेका पुनर्जन्म होता है, किन्तु एक बार कृष्णको प्रणाम करनेवालेका पुनर्जन्म नहीं होता।

(२६) अभ्युत्थान

भगवान्‌के सम्मुख, नगर-भ्रमणदिके समय, रथ या पालकी आदिमें दर्शन करन पर, गुरुदेव या वैष्णवोंके आगमन पर आदरपूर्वक खड़े होकर अभिवादन करनेका नाम अभ्युत्थान है। ऐसा करनेसे भगवान् प्रसन्न होते हैं और भक्तिकी वृद्धि होती है। ब्रह्माण्ड पुराणमें कहा गया है—

यानारूढं पुरः प्रेक्ष्य समायान्तं जनार्द्दनम्।
अभ्युत्थानं नरः कुर्बन् पातयेत् सर्वकिल्वषम्॥
(भ॰र॰सि॰ १/२/१३०)

अर्थात् रथ या शिविका आदि पर आरूढ़ भगवान् जनार्द्दनको देखकर जो लोग अभ्युत्थान करते हैं, उनके सभी पातक दूर हो जाते हैं।

(२७) अनुव्रज्या

श्रीभगवान्‌की रथ-यात्रा, नगर-भ्रमणके समय उनके पीछे, पासमें या आगे श्रद्धापूर्वक चलने व अनुगमन करनेसे अनुव्रज्या होती है। गुरु और वैष्णवोंके गमन या आगमनके समय उनकी भी अनुव्रज्या होनी चाहिए।

रथेन सह गच्छन्ति पार्श्वतः पृष्ठतोऽग्रतः।
विष्णुनैव समाः सर्वे भवन्ति स्वपदाचयः॥
(भ॰र॰सि॰ १/२/१३१ धृत भविष्योत्तर)

अर्थात् यदि चण्डाल भी श्रीभगवान्‌के रथादिके पीछे, आगे या बगलमें भ्रमण करते हैं, तो वे विष्णुके समान पूज्य होते हैं।

(२८) श्रीमूर्त्तिस्थानमें गमन

श्रीभगवान्‌के श्रीमन्दिरमें गमन करना, उनका दर्शन, प्रणाम, स्तव-स्तुति इत्यादिके द्वारा अभिवादन करना चाहिए।

(२९) परिक्रमा

श्रीभगवन्मन्दिर, उनकी लीला-स्थली, तुलसी, श्रीगिर्राज आदिको अपनी दाहिनी ओर रखकर परिक्रमा करनी चाहिए। परिक्रमा साधारणतः चार बार करनी चाहिए। श्रीहरिभक्तिसुधोदयमें कहा गया है—

विष्णुं प्रदक्षिणीकुर्वन् यस्तत्रावर्त्तते पुनः।
तदेवावर्त्तनं तस्य पुनर्नावर्त्तते भवे॥
(भ॰र॰सि॰ १/२/१३५)

जो श्रीविष्णुकी प्रदक्षिणाकर पुनः-पुनः परिक्रमा करते हैं उनका वह आवर्त्तन (धूमना) अन्तिम है; क्योंकि उनका संसारमें पुनः लौटना नहीं होता।

(३०) पूजन (अर्चन)

विभिन्न उपचारोंके द्वारा श्रीमूर्त्तिका पूजन करना ही पूजन या अर्चन कहलाता है। गन्ध, पुष्प, धूप, दीप,

नैवेद्य—इन पाँच उपचारोंसे पूजन करनेसे पञ्चोपचार पूजन कहलाता है। आसन, स्वागत, आचमन, पाद्य, अर्घ्य, मधुपर्क, पुनः आचमनीय, स्नान, वसन, आभरण, गन्ध, पुष्प, दीप, धूप, नैवेद्य एवं चन्दन—इन सोलह उपचारोंके द्वारा श्रीभगवान्‌का पूजन 'षोडशोपचार' पूजन कहलाता है।

श्रीविष्णोरर्चानं ये तु प्रकुर्वन्ति नरा भुवि।
ते यान्ति शाश्वतं विष्णोरानन्दं पदम्॥
(भ॰र॰सि॰ १/२/१३९ धृत विष्णुरहस्य)

अर्थात् जो लोग भगवान् श्रीविष्णुका अर्चन करते हैं, वे लोग विष्णुके शाश्वत आनन्दमय परमधाममें गमन करते हैं।

(३१) परिचर्या

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुमें कहा गया है—

परिचर्या तु सेवोपकरणादि-परिष्क्रिया।
तथा प्रकीर्णकच्छत्रवादित्रौरुपासना॥
(भ॰र॰सि॰ १/२/१४०)

अर्थात् राजाकी भाँति कृष्णकी सेवा करनेको परिचर्या कहते हैं। यह परिचर्या दो प्रकारकी होती है। अर्चनके उपकरणोंको साफ-सुथरा और शुद्ध करना, एवं श्रीविग्रहकी चामर और छत्रादि द्वारा सेवा करना।

(३२) गीत

भक्तिसाधकोंके लिए भगवद् विग्रहके सामने शरणागति एवं लालसामयी आदि प्रार्थनामूलक महाजन पदावलियोंका गान करना कर्त्तव्य है।

(३३) संकीर्त्तन

महत्पुरुषोंके आनुगत्यमें बहुतसे श्रद्धालु भक्तोंका एकत्र मिलकर भगवद् प्रीतिके लिए भगवन्नामका उच्च स्वरसे कीर्त्तन करना ही संकीर्त्तन कहलाता है—'संकीर्त्तनं बहुभिर्मिलित्वा तद्गान सुखं श्रीकृष्ण गानम्।' (श्रीजीवगोस्वामी क्रमसन्दर्भ) श्रीचैतन्यचरितामृतमें नामसंकीर्त्तनको ६४ प्रकारके भक्तिअङ्गोंमें अथवा भक्तिके नौ अङ्गोंमें सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है—

भजनेर मध्ये श्रेष्ठ नवविधा भक्ति।
'कृष्णप्रेम', 'कृष्ण' दिते धरे महाशक्ति॥
तार मध्ये सर्वश्रेष्ठ नाम-संकीर्त्तन।
निरपराधे नाम लैले पाय प्रेमधन॥
(चै॰च॰अ॰ ३/४/७०-७१)

विशेषतः कलियुगमें नामसंकीर्त्तन ही एकमात्र सर्वोत्तम धर्म है। श्रीलजीव गोस्वामीने कहा है कि कलियुगमें यदि किसी दूसरे भक्तिके अङ्गोंका अनुष्ठान करना भी हो, तो उसमें भी श्रीनामसंकीर्त्तनका संयोग अवश्यमेव होना चाहिए—'अतएव यद्यन्यापि भक्तिः कलौ कर्त्तव्या, तदा तत्संयोगे नैवेत्युक्तम्।'

(३४) जप

भगवन्नाम या मन्त्रका उच्चारण करना ही जप कहलाता है। यह उच्चारण तीन प्रकारके हैं—वाचिक, उपांशु और मानसिक। स्पष्टरूपसे मन्त्रोच्चारण कर जप करनेको वाचिक जप कहते हैं। धीरे-धीरे उच्चारण किया हुआ जप—जब होंठ थोड़े-थोड़े हिलते हैं और अपने कानोंसे जिसे सुना जा

सके, तब उसे उपांशु जप कहते हैं। मन-ही-मन नाम या मन्त्रका चिन्तन ही मानसिक जप है।

(३५) स्तवपाठ

श्रीमद्भागवतादि शास्त्रोंमें और षडगोस्वाामियोंके रचित ग्रन्थोंमें साधकोंके लिए उपयोगी श्रीगुरु, श्रीचैतन्यमहाप्रभु, श्रीनित्यानन्द प्रभु, श्रीमती राधिका, श्रीवृन्दावनधाम, श्रीनवद्वीपधाम, श्रीगिर्राज-गोवर्धन, यमुना, राधाकुण्ड-श्यामकुण्ड आदिके प्रार्थनामूलक बहुतसे स्तव-स्तोत्र हैं। साधकभक्त प्रीतिपूर्वक उनका पाठ करेंगे।

(३६) महाप्रसाद सेवा

भगवदर्पित भोज्य और पेय पदार्थोंको महाप्रसाद कहते हैं। भक्तोंके लिए महाप्रसादका सेवन करना ही कर्त्तव्य है। महाप्रसादके सेवनसे अनायास ही अनर्थ दूर हो जाते हैं तथा भगवद्भक्तिकी वृद्धि होती है। भगवद् भक्तजन महाप्रसादका ही सेवन करते हैं, इसलिए उनके उच्छिष्ट प्रसादको महा-महाप्रसाद कहते हैं—जो हृदयमें भक्तिको उदित करानेके लिए एक महाशक्तिशाली परमौषधि-स्वरूप है।

(३७) विज्ञप्ति

भगवान्‌के श्रीचरणोंमें अपनी प्रार्थना विज्ञापित (अवगत) करना ही विज्ञप्तिका तात्पर्य है। अपनी दुर्दशा, कुटिलता, संसारासक्ति, असहायता आदिका वर्णन करते हुए उनसे उद्धार कर अपने श्रीचरणोंकी सेवा प्रदान करनेके लिए कातर स्वरसे प्रार्थना करनेको विज्ञप्ति कहा जाता है। विज्ञप्ति तीन प्रकारकी होती है—(१) सम्प्रार्थनात्मिका, (२) दैन्यबोधिका और (३) लालसामयी।

(१) सम्प्रार्थनात्मिका—

युवतीनां यथा यूनि यूनाञ्च युवतौ यथा।
मनोऽभिरमते तद्वन्मनोऽभिरमतां त्वयि॥
(भ॰र॰सि॰ १/२/१५३)

अर्थात् युवतियोंका युवकके प्रति एवं युवकोंका युवतियोंके प्रति जिस प्रकार मन आसक्त होता है, हे प्रभो! तुम्हारे प्रति भी मेरा मन वैसे ही आसक्त हो।

(२) दैन्यबोधिका—

मत्तुल्यो नास्ति पापात्मा नापराधी च कश्चन।
परिहारेऽपि लज्जा मे किं ब्रुवे पुरुषोत्तम॥
(भ॰र॰सि॰ १/२/१५४)

अर्थात् हे पुरुषोत्तम! इस विश्वमें मेरे समान कोई भी पापी एवं अपराधी नहीं है। यद्यपि आप अहैतुकी कृपाके समुद्र हैं, तथपि आप मेरे दोषोंको क्षमा करें, यह कहनेमें भी मुझे बड़ी लज्जा आती है। इससे अधिक और क्या कहूँ।

(३) लालसामयी—

कदाहं यमुना-तीरे नामानि तव कीर्त्तयन्।
उद्बाष्पः पुण्डरीकाक्ष! रचयिष्यामि ताण्डवम्॥
(भ॰र॰सि॰ १/२/१५६)

अर्थात् हे पद्मपलाशलोचन! मैं कब यमुनाके किनारे भरे हुए गलेसे तुम्हारे नामोंका कीर्त्तन करता हुआ ताण्डव नृत्य करूँगा?

(३८) चरणामृतपान

साधकोंको भगवद्-अर्चनके पश्चात् उनके श्रीचरणामृतका श्रद्धापूर्वक नियमितरूपसे पान करना तथा मस्तक पर धारण करना चाहिए। इससे भक्तिकी वृद्धि होती है।

(३९) धूप-माल्यादि, (४०) श्रीमूर्त्तिदर्शन, (४१) श्रीमूर्त्तिका स्पर्श, (४२) भगवान्‌की तीनों संध्याओंकी आरती—ये कतिपय अङ्ग बिल्कुल स्पष्ट हैं।

(४३) श्रवण

श्रीभगवान्‌के नाम, रूप, गुण, लीला, कथाओंके श्रवण करनेको श्रवण कहते हैं। श्रीकृष्णके नाम, रूप, गुण और लीला-कथाएँ श्रीकृष्णसे अभिन्न हैं। श्रीकृष्ण-स्वरूपकी समस्त शक्तियाँ उनमें निहित रहती हैं। लीला-कथाओंके श्रवणके माध्यमसे श्रीभगवान् श्रोताओंके हृदयमें प्रवेशकर हृदयस्थित समस्त अनर्थोंको दूर कर देते हैं तथा वहाँ प्रेमाभक्तिका सञ्चार कर देते हैं—

शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्त्तनः।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्॥
(श्रीमद्भा० १/२/१७)

भगवान्‌की लीला-कथाओंके श्रवण करनेसे जीवोंके समस्त अमङ्गल दूर हो जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें अनन्य प्रेममयी भक्तिकी लालसा रखनेवालोंको नित्य-निरन्तर उन लीला-कथाओंका अवश्य ही श्रवण करना चाहिए।

(४४) श्रीभगवान्‌की कृपा–अपेक्षा

भगवत्कृपाके बिना न तो भक्तिकी ही प्राप्ति हो सकती है और न कोई साधन–भजन ही सम्भव है। भक्ति–साधकको सब समय भगवत्कृपाकी अपेक्षा होती है। उसे सर्वत्र कृष्णकृपाकी अनुभूति होनी चाहिए। जो लोग क्षण–क्षण पर बड़ी उत्सुकतासे आपकी कृपाका ही भलीभाँति अनुभव करते रहते हैं, प्रारब्धके अनुसार जो कुछ सुख–दुःख प्राप्त होता है, उसे भगवत्कृपा मानकर ही निर्विकार मनसे भोग लेते हैं तथा प्रेमपूर्ण हृदय, गद्‌गदवाणी और पुलकित शरीरसे स्वयंको आपके श्रीचरणोंमें (भगवच्चरणोंमें) समर्पित करते रहते हैं, वे ठीक वैसे ही आपके परमपद (भगवद्‌प्रेम)के अधिकारी हो जाते हैं, जैसे पिताकी सम्पत्तिका पुत्र।

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवते यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥
(श्रीमद्भा॰ १०/४/८)

(४५) स्मरण

श्रीकृष्णनाम, रूप, गुण, लीला आदिका मनसे चिन्तन करना ही स्मरण है।

(४६) ध्यान

भगवान्‌के रूप, गुण, लीला और उनकी सेवाओंका भलीभाँति चिन्तन करना ही ध्यान कहलाता है।

(४७) दास्य

कृष्णदास्य ही जीवका शुद्ध–स्वरूप है। श्रीकृष्णसे विमुख होनेके कारण उसका वह शुद्धस्वरूप मायाके द्वारा

आच्छादित हो जाता है। सौभाग्यवश साधुसङ्गके द्वारा अपने उक्त स्वरूपको जानकर साधकको 'मैं कृष्णदास हूँ' सदा-सर्वदा ऐसी भावना करनी चाहिए। इसे ही दास्य कहते हैं। प्रारम्भिक रूपमें कर्मोंका अर्पण और किंकर होना—यह दो प्रकारका दास्य होता है। श्रीचैतन्यमहाप्रभुने जीवके शुद्ध स्वरूपतत्त्वके सम्बत्धमें कहा है—

नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शुद्रो,
नाहं वर्णी न च ग्रहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा।
किन्तु प्रोद्यन्निखिल परमानन्द पूर्णामृताब्धे-
गोंपीभर्त्तुः पदकमलयोदास-दासानुदासः॥

(पद्यावली ६३)

अर्थात् मैं ब्राह्मण नहीं हूँ, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र भी नहीं हूँ। ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी और संन्यासी भी नहीं हूँ। मैं निखिल परमानन्दसे पूर्ण अमृतसागर गोपियोंके प्राण-प्रियतम श्रीकृष्णके चरणकमलोंके दासोंके दासोंका अनुदास हूँ। साधकोंको ऐसी ही भावना रखनी चाहिए।

(४८) सख्य

विश्वास और मैत्रीके भेदसे सख्य दो प्रकारका होता है। द्रौपदीका श्रीकृष्णके प्रति ऐसा विश्वास है 'श्रीकृष्ण मेरी अवश्य ही रक्षा करेंगे' विश्वासमय सख्य भावका उदाहरण है। द्रौपदी श्रीकृष्णकी नित्यसिद्ध परिकर हैं। उनके जैसा प्रगाढ़ विश्वासमय सख्यभाव साधकोंके लिए साधनका विषय नहीं है, फिर भी श्रद्धामात्र रहनेसे भक्तिके साधनमें अधिकार होता है। श्रद्धालु साधकोंमें ऐसे विश्वासमय भावको जगानेके लिए द्रौपदीका उदाहरण दिया गया है।

श्रीभगवान्‌में मनुष्यवत् दर्शन करने एवं मित्रबुद्धिसे उनके साथ व्यवहार करनेके लिए परिचर्यामें नियुक्त कोई-कोई साधक श्रीमन्दिरमें शयन करते हैं। इसे मित्रवृत्ति कहते हैं। मित्रवृत्तिरूप सख्य विधिमार्गवाले साधकोंके लिए नहीं है। यह लोभमूलक रागानुगाभक्तोंके लिए ही उचित है, फिर भी विधिमार्गमें भी कदाचित् ऐसा सम्भव है। इसीलिए यहाँ इस अङ्गका वर्णन किया है।

(४९) आत्मनिवेदन

'आत्म' शब्दसे देहकी 'अहंता' (मैं) और देहनिष्ठ 'ममता' (मेरा)—इन दोनोंको कृष्णके प्रति समर्पण कर देना ही आत्मनिवेदन कहलाता है। शरीरके भीतर जो जीव है, वह 'देही' और 'अहं' कहलाता है। उसको अवलम्बन कर जो मैं बुद्धि होती है, उसीको देही-निष्ठ ममता कहते हैं। देहमें जो मेरी बुद्धि होती है, उसे देह-निष्ठ ममता कहते हैं। इन 'मैं' और 'मेरा' इन दोनोंको कृष्णके प्रति अर्पण करना चाहिए। 'मैं' और 'मेरा' इस बुद्धिको छोड़कर 'मैं कृष्णका प्रसाद भोजन करनेवाला कृष्णका दास हूँ और यह शरीर कृष्णकी सेवाके उपयोगी एक यन्त्र है'—इस बुद्धिसे शरीर-यात्राका निर्वाह करना ही आत्मनिवेदन है।

(५०) निजप्रियवस्तुसमर्पण

संसारमें जो चीज अच्छी लगे, उसे कृष्ण-सम्बन्धी मानकर ग्रहण करनेको प्रियवस्तुओंको कृष्णके प्रति-अर्पण करना है। जो वस्तु अन्यान्य लोगोंको प्रिय है, साथ ही यदि कृष्णको भी प्रिय हों, तो उसे कृष्णके लिए अर्पण करना चाहिए। उनमें भी जो वस्तुएँ लोगोंको प्रिय हों, कृष्णको प्रिय

हों तथा साथ ही अपनेको (साधकको) प्रिय हों, तो वे वस्तुएँ कृष्णके लिए विशेषरूपसे अर्पण योग्य हैं। ये वस्तुएँ कृष्णके लिए अधिकतर प्रीतिदायक होती हैं। जो वस्तु जनसाधारणको प्रिय हैं, किन्तु कृष्णके लिए अप्रिय हैं अथवा कृष्णको प्रिय हैं, किन्तु जनसाधारणको अप्रिय हैं—ऐसी वस्तुएँ कृष्णको अर्पण नहीं करनी चाहिए।

(५१) कृष्णके उद्देश्यसे अखिल चेष्टाएँ

लौकिकी और वैदिकी समस्त प्रकारकी क्रियाओंको हरि-सेवाके अनुकूल करनेसे कृष्णके उद्देश्यसे अखिल चेष्टाओंका करना हो जाता है।

(५२) शरणापत्ति

शरणागति अर्थात् शरणापत्ति—यह छह प्रकारसे सिद्ध होती है—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यविवर्जनं।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृप्ते वरणं तथा।
आत्मनिक्षेप-कार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥
(भक्तिसन्दर्भ धृत वैष्णवतन्त्रवचनं)

अर्थात् अनन्य शरणागत साधकोंको केवल प्रेम-भक्तिके अनुकूल विषयों या वस्तुओंको ही ग्रहण करना चाहिए और साथ ही उन्हें प्रेम-भक्तिके प्रतिकूल विषयोंका सर्वथा वर्जन करना चाहिए। कृष्ण ही एकमात्र रक्षाकर्त्ता हैं, उनको छोड़कर कोई भी दूसरा रक्षाकर्त्ता नहीं है अथवा किसी भी दूसरे कार्य द्वारा रक्षा नहीं हो सकती, अनन्य भक्तोंका ऐसा दृढ़विश्वास होता है। कृष्ण ही हमारे एकमात्र पालनकर्त्ता हैं, इस विषयमें

उनको किसी भी प्रकारका सन्देह नहीं रहता। मैं अतिशय दीन–हीन हूँ, ऐसा सुदृढ़ और सरल विश्वास अनन्यभक्तोंका होता है। मैं कुछ भी नहीं कर सकता, कृष्णकी इच्छाके बिना कोई भी कुछ नहीं कर सकता—अनन्य भक्तोंको ऐसा विश्वास रहता है। ऐसी भवनाओंको शरणापत्ति कहते हैं।

(५३) तुलसीसेवा

तुलसीसेवाके सम्बन्धमें पहले १०वें अङ्ग (अश्वत्थ, तुलसी–धात्री–गो–ब्राह्मण–वैष्णव–सम्मान)के अन्तर्गत वर्णन किया जा चुका है।

(५४) वैष्णव–शास्त्र–सेवा

भगवद्भक्ति प्रतिपादक शास्त्र ही वैष्णव शास्त्र हैं। उनमें श्रीमद्भागवत ही सर्वश्रेष्ठ हैं, क्योंकि यह सर्व वेदान्तसार–स्वरूप हैं। इनके रसस्वरूप अमृतका आस्वादन करनेवालोंको किसी दूसरे शास्त्रके प्रति रुचि नहीं रहती।

सर्ववेदान्तसारं हि श्रीमद्भागवतमिष्यते।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित्॥
(श्रीमद्भा॰ १२/१३/१५)

(५५) मथुरा–मण्डलमें वास

मथुराका माहात्म्य श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण करना चाहिए। वहाँ जानेकी इच्छा, दर्शन, स्पर्शन, वहाँ निवास करना और उनकी सेवा करना—इन क्रियाओंसे भक्तिकी अभिलाषा पूर्ण होती है। यहाँ मथुरा वाससे मथुरा–मण्डलके अन्तर्गत श्रीवृन्दावन, गोकुल, नन्दगाँव, बरसाना, राधाकुण्ड–श्यामकुण्ड आदि तथा मायापुर आदिको भी समझना चाहिए।

(५६) वैष्णव–सेवन

वैष्णव भगवान्के अत्यन्त प्रिय हैं। वैष्णवोंकी सेवा करनेसे भगवान्के प्रति भक्ति होती है। शास्त्रोंमें ऐसा कहा गया है कि समस्त देवताओंकी आराधनासे विष्णुकी आराधना श्रेष्ठ है और विष्णुकी आराधनासे भी उनके सेवकों (वैष्णवों)की पूजा श्रेष्ठ है।

येषां संस्मरणात् पुंसां सद्यः शुद्ध्यन्ति वै गृहाः।
किं पुनर्दर्शनस्पर्शषादशौचासनादिभिः॥
(श्रीमद्भा॰ १/१८/३३)

अर्थात् जिन वैष्णवोंके स्मरण करनेसे भी लोगोंके गृह परम–पवित्र हो जाते हैं, उनके दर्शन, स्पर्शन, पाद–प्रक्षालन, उनको आसन–दान तथा उनकी सेवासे मनुष्य पवित्र हो जाता है, इसमें विचित्रता ही क्या है। श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा है कि जो कहते हैं कि हे भगवन् हम आपके भक्त हैं, यथार्थतः वे मेरे भक्त नहीं हैं; किन्तु मेरे भक्तोंके भक्त ही मेरे यथार्थ भक्त हैं—

ये मे भक्तजनाः पार्थ! न मे भक्ताश्च ते जनाः।
मद्भक्तानाञ्च ये भक्ता मम भक्तास्तु ते नराः॥
(भ॰र॰सि॰ १/२/२१८ धृत आदिपुराण)

(५७) यथाशक्ति हिण्डोलादि उत्सव मनाना

श्रीभगवान्के मन्दिरमें अपनी शक्तिके अनुसार द्रव्यादि संग्रहकर जन्म–महोत्सव, रथ–यात्रा, हिण्डोला इत्यादि महोत्सव करना तथा भगवत्–सेवा पूर्वक शुद्ध–वैणवोंकी सेवाको महोत्सव कहते हैं। इससे श्रेष्ठ उत्सव संसारमें कुछ भी नहीं है।

(५८) कार्त्तिक व्रत

इसे दामोदर व्रत भी कहते हैं। कार्त्तिक मासका नाम ऊर्जा भी है। इस महीनेमें नियमितरूपसे श्रवण-कीर्त्तनादि भक्तिके अङ्गोंके पालनके द्वारा श्रीराधादामोदरकी सेवा करनेका नाम ऊर्जादर अर्थात् ऊर्जाका आदर करना है। ऊर्जा शक्तिको भी कहते हैं। इस महीनेकी अधिष्ठात्री देवीका नाम ऊर्जेश्वरी है। श्रीमती राधिकाजीका ही दूसरा नाम ऊर्जेश्वरी है।

(५९) सर्वदा हरिनाम ग्रहण और जन्माष्टमी आदि महोत्सव यात्रा पालन

सदैव सभी अवस्थाओंमें श्रीहरिनामका उच्चारण करना ही श्रीहरिनाम ग्रहण है। खाते-पीते, सोते-जागते, चलते-फिरते, शुद्धाशुद्ध-अवस्थाओंमें श्रीहरिनामका उच्चारण किया जा सकता है—

खाइते शुइते यथा तथा नाम लय।
देश-काल नियम नाहि सर्वसिद्धि हय॥

श्रीचैतन्यमहाप्रभुने भी शिक्षाष्टकके प्रथम श्लोकमें 'कीर्त्तनीयः सदा हरि' कहा है। भक्तिके समस्त अङ्गोंमें हरिनामका कीर्त्तन करना सर्वश्रेष्ठ अङ्ग माना गया है। हरिनाम संख्यापूर्वक अथवा बिना संख्यापूर्वक, मन-ही-मन, धीरे-धीरे या जोरसे—सभी प्रकारसे किया जा सकता है। फिर भी श्रीमन्महाप्रभु, उनके अनुगतजन श्रीहरिदास ठाकुर एवं आज तक श्रीगौड़ीय-वैष्णवाचार्य-परम्परामें संख्या रखकर हरिनाम करनेकी प्रथा देखी जाती है। संख्या नामके पश्चात् असंख्यातरूपमें भी हरिनाम किया जा सकता है। विशेषकर

मृदङ्ग, करताल और नृत्यके साथ भावपूर्वक नामसंकीर्त्तनके समय नामकी संख्या नहीं रखी जा सकती। ऐसा करना शास्त्र विरुद्ध नहीं है। अर्वाचीन कुछ लोग 'हरेकृष्ण' महामन्त्रका उच्चारण और जोर-जोरसे कीर्त्तन नहीं करते तथा दूसरोंको भी मना करते हैं। किन्तु उनका यह विचार सर्वथा शास्त्रविरुद्ध है। यह श्रीमन्महाप्रभु और हरिदास ठाकर आदिके जीवन-चरित्रमें स्पष्ट है।

भाद्रपदकी कृष्णाष्टमी और फाल्गुन महीनेकी पूर्णिमाके दिन उत्सव करनेका नाम श्रीजन्म-यात्रा है। शरणागत साधकोंको इनका अवश्य पालन करना चाहिए।

अनन्तर सर्वश्रेष्ठ पाँच अङ्गोंका वर्णन किया जा रहा है—

(६०) श्रद्धापूर्वक श्रीमूर्त्तिकी सेवा

श्रीमूर्त्तिकी सेवा-पूजामें प्रीतिपूर्ण उत्साहका होना आवश्यक होता है। जो लोग परमोत्साहसे श्रीमूर्त्तिकी सेवा-पूजा करते हैं, श्रीकृष्ण उनको केवल मुक्तिरूप तुच्छफल न देकर भक्तिरूप महाफल तक दान करते हैं।

(६१) रसिकोंके सङ्गमें भगवतार्थका आस्वादन

वेदरूप कल्पवृक्षका सुमिष्ट रस ही श्रीमद्भागवत है। रसविमुख व्यक्तियोंके सङ्गमें श्रीमद्भागवतका रसास्वादन नहीं होता, उल्टा अपराध होता है। जो भागवतके रसज्ञ अर्थात् शुद्धभक्तिके अधिकारी हैं—कृष्णलीलारसके पिपासु हैं, उनके सङ्गमें श्रीमद्भागवतके श्लोकोंका रसास्वादन करना चाहिए। साधारण सभाओंमें श्रीमद्भागवतका पाठ या श्रवण करनेसे शुद्धभक्तिका उदय नहीं होता।

(६२) सजातीय–स्निग्ध–महत्तर–साधुसङ्ग

सत्सङ्गका नाम कर अभक्तलोगोंका सङ्ग करनेसे भक्तिकी उन्नति नहीं होती। श्रीकृष्णकी अप्राकृत लीलामें सेवा प्राप्त करना ही भक्तजनोंके लिए अभीष्ट होता है। ऐसी अभिलाषा जिन्हें है, उनको 'भक्त' कहा जा सकता है, वैसे भक्तोंमें अपनेसे श्रेष्ठ भक्तोंका सङ्ग करनेसे भक्तिकी उन्नति होती है। ऐसा नहीं होनेसे भक्तिकी उन्नति रुक जाती है और जिस श्रेणीके लोगोंका सङ्ग किया जाता है, उसी प्रकारका स्वभाव हो पड़ता है। हरिभक्ति–सुधोदय (८/५१) सङ्गके सम्बन्धमें इस प्रकार कहा गया है—

यस्य यत्सङ्गतिः पुंसो मणिवत् स्यात् त तदगुणः।
स्वकुलर्द्धैय ततो धीमान् स्वयुथान्येव संश्रयेत्॥

अर्थात् जैसे मणिको जिस रङ्गकी वस्तुके साथ रखा जाय, उस वस्तुके समान ही मणिका रङ्ग दिखलाई पड़ता है, उसी प्रकार जिस पुरुषका जैसा सङ्ग होता है, उसीके अनुरूप उसका स्वभाव हो जाता है। अतएव शुद्ध सन्तोंके सङ्गसे शुद्ध हुआ जाता है। साधुसङ्ग (सत्सङ्ग) सब प्रकारसे कल्याणप्रद होता है। शास्त्रोंमें जो निःसङ्ग होनेका परामर्श दिया गया है, उसका तात्पर्य साधुसङ्ग करनेको कहा गया है।

(६३) नामसंकीर्त्तन

कृष्ण नाम—अप्राकृत चैतन्य रस है। उनमें जड़भावकी तनिक भी गन्ध नहीं है। भक्त जीवकी सेवावृत्तिसे भक्ति–शोधित रसनादि पर श्रीनाम स्वयं स्फूर्ति लाभ करते हैं। नाम जड़ेन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण नहीं किये जा सकते। इस प्रकार

निरन्तर स्वयं और दूसरोंके साथ मिलकर नामसंकीर्त्तन करना चाहिए।

चित्‌कण स्वरूप जीव शुद्धस्वरूपमें अवस्थित होकर अपने चिन्मय शरीरसे हरिनामका उच्चारण करनेका अधिकारी है। परन्तु मायाबद्ध होने पर जड़ेन्द्रियोंके द्वारा वह शुद्ध नाम नहीं कर पाता। ह्लादिनी शक्तिकी कृपा होने पर जिस समय स्व-स्वरूपकी क्रिया आरम्भ हो जाती है, उसी समय उनका नामोदय होता है। नामोदय होते ही शुद्धनाम मनोवृत्तिके ऊपर कृपा-पूर्वक अवतीर्ण होकर भक्तकी भक्ति द्वारा पवित्र हुई रसनादिके ऊपर नृत्य करते हैं। नाम अक्षराकृति नहीं है, केवल जड़ जिह्वाके ऊपर नृत्य करनेके समय वे वर्णके आकारमें प्रकाशित होते हैं। यही नामका रहस्य है।

हरिनाम मुख्य और गौणके भेदसे दो प्रकारके होते हैं—ब्रह्म, परमात्मा, नियन्ता, पाता, स्रष्टा, महेन्द्र आदि गौण नाम हैं। विष्णु, नारायण, अनन्त, राम, हरि, कृष्ण, गोपाल, गोपीनाथ, राधारमण आदि मुख्य नाम हैं। शतनाम स्तोत्रमें कहा गया है—

विष्णोरेकैकं नामापि सर्व-वेदाधिकं मतम्।
तादृक्-नाम-सहस्रेण राम-नाम-समं स्मृतम्॥

अर्थात् विष्णुका एक-एक नाम समस्त वेदोंके पाठसे भी अधिक फलदायक होता है, परन्तु ऐसे-ऐसे सहस्र विष्णु-नाम एकत्र मिलकर एक 'राम' नामके बराबर होते हैं।

पुनः ब्रह्माण्ड पुराणमें कहते हैं—

सहस्र-नाम्नां पुण्यानां त्रिरावृत्या तु यत फलम्।
एकावृत्या तु कृष्णस्य नामैकं तत् प्रयच्छति॥

अर्थात् विष्णुके सहस्र नामोंके तीन बार उच्चारणका जो फल होता है, कृष्ण नाम एक बार उच्चारणसे वही फल प्राप्त होता है।

कलि संतरण उपनिषद्, ब्रह्माण्ड पुराण, कृष्णयामल आदिमें उल्लिखित—

"हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥" यह सोलह नाम युक्त मन्त्र ही महामन्त्र है। श्रीचैतन्य महाप्रभुने जीवोंको सब समय इसी महामन्त्रका संकीर्त्तन करनेका निर्देश दिया है। श्रीगोपालगुरु, श्रीरघुनाथदास गोस्वामी, श्रीलजीवगोस्वामी, श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर आदि नामरसिकोंने इस महामन्त्रके प्रत्येक नामका अत्यन्त चमत्कारपूर्ण और रसपूर्ण अर्थ बतलाया है। रागानुगा साधकोंको इस विषयमें विशेष जाननेके लिए श्रील भक्तिविनोद ठाकुर द्वारा रचित श्रीहरिनाम-चिन्तामणि ग्रन्थ देखना चाहिए।

श्रुतिस्मृतिपुराणादि समस्त शास्त्रोंमें भगवन्नाम संकीर्त्तनका माहात्म्य वर्णन किया गया है। ६४ प्रकारकी भक्ति अङ्गोंमें नवधा भाक्तिको श्रेष्ठ माना गया है। इस नवधा भक्तिमें भी नामसंकीर्त्तनको सर्वश्रेष्ठ उद्‌घोषित किया गया है—

भजनेर मध्ये श्रेष्ठ नवविधा भक्ति।
कृष्ण प्रेम कृष्णोदिते धरे महाशक्ति॥
तार मध्ये सर्वश्रेष्ठ नामसंकीर्त्तन।
निरपराधे नाम कैले पाय प्रेम धन॥

(चै॰च॰अ॰ ४/७०-७१)

पद्मपुराणमें कृष्णनामका स्वरूप बतलाया गया है—

नाम-चिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्य-रस-विग्रहः।
पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नाम-नामिनोः॥

अर्थात् नाम और नामी परस्पर अभेद तत्त्व हैं इसलिए नामी कृष्णके समस्त चिन्मय गुण उनके नाममें हैं, नाम सर्वदा पूर्ण-तत्त्व हैं, हरिनाममें जड़ संस्पर्श नहीं है, वे नित्यमुक्त हैं; क्योंकि वे मायिक गुणों द्वारा कभी आबद्ध नहीं होते। नाम स्वयं कृष्ण हैं, अतएव चैतन्यरसके घन-विग्रह हैं। नाम चिन्तामणि है, उनसे जो कुछ भी माँगा जाय, वे सब कुछ देनेमें समर्थ हैं।

हरिनाम-संकीर्त्तन साधकों, सिद्ध-महापुरुषों, सकाम-साधकों, निष्काम-साधकों सभीके लिए सर्वश्रेष्ठ साधन है—

एतान्निर्विद्यमाना नामिच्छताम कुतोभयम्।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्त्तनम्॥
(श्रीमद्भा॰ २/१/११)

अर्थात् हे महाराज! स्वर्ग और मोक्षादि कामनावाले कर्मी, ज्ञानी तथा सब प्रकारकी कामनाओंसे रहित भक्तों—सभीके लिए श्रीभगवन्नाम-संकीर्त्तन ही एकमात्र सन्तापहारी साधन निर्णीत हुआ है। यहाँ निर्णीतका तात्पर्य यह है कि पूर्व-पूर्व ऋषि-महर्षियोंके द्वारा अनुभूतिके बाद संशयरहित होकर सर्वसम्मतिसे यह निर्णय लिया गया है। श्रीमद्भागवत (११/२/४०)में और भी कहा गया है—

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्याजातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौदि गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥

जो इस प्रकार विशुद्ध व्रत-नियम ले लेता है, उसके हृदयमें अपने परम प्रियतम प्रभुके नामकीर्त्तनसे अनुरागका प्रेमांकुर उग आता है अब वह साधारण लोगोंकी स्थितिसे ऊपर उठ जाता है। लेगेंकी मान्यता और धरणाओंसे परे हो जाता है। स्वभावसे ही मतवालासा होकर कभी खिलखिलाकर हँसने लगता है, तो कभी फूट-फूटकर रोने लगता है, कभी उच्च स्वरसे भगवान्‌को पुकारने लगता है तो कभी मधुर स्वरसे उनके गुणोंका गान करने लगता है, कभी-कभी जब वह अपने प्रियतमको अपने नेत्रोंके सामने अनुभव करता है, तब उन्हें रिझानेके लिए नृत्य भी करने लगता है।

श्रील जीवगोस्वामीने श्रीमद्भागवतके निम्नलिखित श्लोकोंको उद्‌धृत करते हुए कलियुगमें उच्च संकीर्त्तनको भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिए सर्वश्रेष्ठ साधन बतलाया है—

कृते यद्‌ध्यायतोविष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परचर्यायां कलौ तद्‌हरि-कीर्त्तनात्॥
(श्रीमद्भा॰ १२/३/५२)

अर्थात् सत्युगमें विष्णुका ध्यान करनेसे, त्रेतायुगमें यज्ञानुष्ठान करनेसे और द्वापरमें भगवान्‌की परिचर्या करनेसे जो-जो फल प्राप्त होते हैं, कलियुगमें श्रीहरिकीर्त्तनके द्वारा मनुष्य उन-उन सभी फलोंको प्राप्त कर लेते हैं।

ध्यायन् कृते जपन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्च्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्त्य केशवम्॥

अर्थात् सत्युगमें ध्यान करनेसे, त्रेतायुगमें यज्ञ करनेसे, द्वापरमें अर्चन करनेसे साधक जो फल प्राप्त करते हैं,

कलियुगमें श्रीकेशवके नामादिका संकीर्त्तन कर उन सभी फलोंको प्राप्त किया करते हैं।

कलिं सभाजयन्त्यार्य्या गुणज्ञाः सावभागिनः।
यत्र संकीर्त्तनेनैव सर्वः स्वार्थोऽभिलभ्यते॥
(श्रीमद्भा॰ ११/५/३६)

हे राजन! कलियुगमें एकमात्र भगवन्नाम संकीर्त्तनके द्वारा ही सभी युगोंके सब प्रकारके पुरुषार्थ प्राप्त किये जा सकते हैं। ऐसा जानकर गुणग्राही आर्यगण इस युगकी प्रशंसा किया करने हैं।

श्रीवैष्णव-चिन्तामणि ग्रन्थमें स्मरणकी अपेक्षा नाम-संकीर्त्तनकी अधिक महिमा बतलायी गयी है—

अघच्छित् स्मरणं विष्णोर्वह्वायासेन साध्यते।
ओष्ठस्पन्दनमात्रेण कीर्त्तनन्तु ततो वरम्॥

अर्थात् अघारि श्रीकृष्णका स्मरण बहुत परिश्रम साध्य है अर्थात् नाना-प्रकारके सांसारिक विषयोंसे चित्तको हटाकर विष्णुमें समाहित करना कठिन है; किन्तु ओष्ठ स्पन्दन मात्रसे ही श्रीकीर्त्तन अनायास ही साधित हो जाता है, अतः वह स्मरणसे भी श्रेष्ठ और प्रभावशाली है।

नारदीय पुराणमें भगवन्नामकीर्त्तनको महामहिमाशाली बतलाते हुए उसीको कलियुगी जीवोंके उद्धारका एकमात्र साधन बतलाया गया है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

श्रील जीवगोस्वामीने भक्तिसन्दर्भमें नामकी अशेष महिमाका वर्णन करते हुए कहा है कि कलियुगमें हरिनाम-संकीर्त्तनकी जो अत्यन्त प्रशंसा की गयी है, उसका एक कारण यह है कि अन्यान्य युगोंमें श्रीभगवान् उन-उन युगोंके युगधर्म ध्यान, यज्ञ आदिका स्वयं आचरण कर शिक्षा देते हैं, उन युगोंमें वे स्वयं नामकीर्त्तनका आचरण कर शिक्षा नहीं देते, किन्तु कलियुगमें श्रीभगवान्ने जीवोंकी दुर्गति देखकर श्रीगौराङ्ग रूपमें स्वयं नामकीर्त्तनका आचरण कर कलियुगके जीवोंको नामकीर्त्तनकी शिक्षा दी है 'नामप्रेम माला गाँथि परालु सबारे।' इसलिए कलियुगमें नामकीर्त्तनकी इतनी महिमा सुनी जाती है। इसीलिए श्रील जीवगोस्वामीने कहा है—"अतएव यद्यन्यापि भक्तिः कलौ कर्त्तव्या तदा तत्संयोगे नैवेत्युक्तम्॥" अर्थात् कलियुगमें यदि भक्तिके किसी दूसरे अङ्गका अनुष्ठान करना भी हो, तो उसे हरिनाम-संकीर्त्तनके संयोगसे ही करना कर्त्तव्य है।

श्रीलसनातन गोस्वामीजीने भी हरिनाम-संकीर्त्तनको स्मरण आदि भक्ति अङ्गोंमें सर्वश्रेष्ठ बतलाया है—

मन्यामहे कीर्त्तनमेव सत्तमं
लोलात्मकैक स्वहृदि स्फुरत्स्मृतेः।
वाचि स्वयुक्ते मनसि श्रुतौ तथा,
दीव्यत् परानप्युपकुर्वदात्मवत्॥
(बृ॰भा॰ २/३/१४८)

अर्थात् हमलोगोंके विचारसे चञ्चल स्वभाव और एकमात्र अपने हृदयमें स्फूर्ति प्राप्त स्मरणकी अपेक्षा कीर्त्तन श्रेष्ठ है क्योंकि कीर्त्तन वागिन्द्रियमें स्फुरित होकर स्वयं ही

मनको भी अपने रङ्गसे रङ्ग देता है। अन्तमें वही कीर्त्तन ध्वनि श्रवणेन्द्रियको भी कृतार्थ कर देती है इतना ही नहीं आत्माकी भाँति अपने सेवक श्रोताओंको भी कृतार्थ करती है।

स्मरणमें ऐसी शक्ति नहीं है इसलिए वायुसे भी अधिक चञ्चल मनको वशीभूत करनेमें एकमात्र कीर्त्तन ही समर्थ है। साथ ही कीर्त्तनाङ्गके बिना मन भी स्मरण करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। कीर्त्तनके अतिरिक्त और किसी भी उपायसे चञ्चल मनको स्थिर नहीं किया जा सकता—यही श्रीसनातनगोस्वामीके इस श्लोकका गूढ़ तात्पर्य है।

श्रीकृष्णके नाना-प्रकारके कीर्त्तनोंमें कृष्णनाम-संकीर्त्तन ही सर्वश्रेष्ठ एवं परमसेव्य है। कृष्णनाम-संकीर्त्तनके द्वारा साधकोंके हृदयमें बहुत शीघ्र ही श्रीकृष्ण प्रेमरूप सम्पत्ति आविर्भूत होती है। श्रीनामसंकीर्त्तन स्वयं ही अन्यान्य निरपेक्ष रूपमें प्रेमसम्पत्ति उत्पादनमें समर्थ हैं। इसलिए स्मरणादि समस्त अङ्गोंमें श्रीनामसंकीर्त्तन ही श्रेष्ठतम है। श्रीनामसंकीर्त्तन साधन एवं साध्य दोनों हैं यही श्रीसनातनगोस्वामी तथा प्रेमी वैष्णवाचार्योंका सिद्धान्त है—

कृष्णस्य नानाविध-कीर्त्तनेषु तन्नाम-संकीर्त्तनमेव मुख्यम्।
तत्प्रेमसम्पज्जनने स्वयंद्राक् शक्तं ततः श्रेष्ठतमं मतं तत्॥
(बृ॰भा॰ २/३/१५८)

शुद्ध वैष्णवोंके आनुगत्यमें उच्च स्वरसे भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, लीला आदिका उच्चारण करना ही कीर्त्तन कहलाता है। श्रीजीव गोस्वामीने संकीर्त्तनके सम्बन्धमें क्रमसन्दर्भमें लिखा है—"बहुभिर्मिलित्वा तद्‌गान सुखं श्रीकृष्णगानम्" अर्थात्

श्रीकृष्ण प्रीतिके लिए बहुत लोगोंका (श्रद्धालु) उच्च स्वरसे श्रीभगवान्‌के नामादिका कीर्त्तन करना ही संकीर्त्तन कहलाता है।

एक बात और भी स्मरण रखनी चाहिए कि शास्त्रोंके अनुसार हरिनाम जपकी अपेक्षा श्रीहरिनाम–कीर्त्तनकी महिमा सैकड़ोंगुणा अधिक बतलायी गयी है। क्योंकि जप करनेवाला व्यक्ति केवल अपनेको ही पवित्र करता है; किन्तु उच्च स्वरसे नामसंकीर्त्तन करनेवाला अपनेको तथा श्रोताओंको भी पवित्र किया करता है।

जपतो हरिनामानि स्थाने शतगुणाधिकः।
आत्मनाञ्च पुतात्युच्चैर्जपन् श्रोतृन् पुनाति च॥
(श्रीनारदीय प्रह्लादवाक्य)

कुछ लोग महामन्त्र "हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥"को केवल जपनीय ही समझते हैं। इस महामन्त्रका उच्च स्वरसे कीर्त्तन करनेका निषध करते हैं, किन्तु भगवन्नाम संकीर्त्तनका आचरण एवं प्रचार करनेवाले श्रीचैतन्य महाप्रभुने इस मन्त्रको कलियुगका 'महामन्त्र' बतलाया है। उन्होंने स्वयं इस महामन्त्रका संख्या रखकर जप भी किया है तथा भावमें विभोर हो हाथोंको ऊपर उठाकर अकेले और सामूहिक रूपमें असंख्यात् संकीर्त्तन भी किया है। श्रीकविकर्णपूर आदि गोस्वामी–ग्रन्थोंमें तथा श्रीचैतन्यभागवत आदि ग्रन्थोंमें इसके भूरि–भूरि प्रमाण उपलब्ध हैं। इसलिए साधकगण नामाचार्य श्रील हरिदास ठाकुरकी भाँति इस महामन्त्रका जप भी कर सकते हैं और उच्च स्वरसे उच्चारण करते हुए कीर्त्तन कर सकते हैं।

(६४) श्रीवृन्दावनवास

श्रीवृन्दावन धाम निखिल ऐश्वर्य और माधुर्यसे परिपूर्ण मूर्त्तिमान रसस्वरूप स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णकी दिव्यातिदिव्य मधुर लीलाओंका नित्यधाम होनेसे सर्वोत्कृष्ट महिमाशाली है। महाभावमयी श्रीमतीराधिका एवं रसराज श्रीकृष्णकी मधुर लीलाओंसे अभिसिक्त है, यहाँ निवास कर साधन-भजन करनेसे साधकोंके हृदयमें अनायास ही वे अप्राकृत लीलाएँ स्फुरित होती हैं। परमादरणीय षड्गोस्वामियोंकी व्रजवास निष्ठा अपूर्व है। श्रील प्रबोधानन्द सारस्वतीने श्रीवृन्दावन-महिमामृतमें कहा है—

श्रीवृन्दावन मम पावनं त्वमेव, श्रीवृन्दावन मम् जीवनं त्वमेव।
श्रीवृन्दावन मम भूषणं त्वमेव, श्रीवृन्दावन मम् सद्‌यशस्त्वमेव॥

श्रीलदासगोस्वामीने भी कहा है—

न चान्यत्र क्षेत्रे हरितनु-सनाथेऽपि भुजाद्र
रसास्वादं प्रेम्णा दधदपि वसामि क्षणमपि।
समं त्वेतद् ग्राम्यावलिभिरभितन्वन्नपि कथां
विधास्ये संवास व्रजभुवन एवं प्रतिभवम्॥
(स्वनियमदशकम् २)

अर्थात् श्रीपाद रघुनाथदासगोस्वामी इस श्लोकमें अत्यन्त प्रीतिके साथ व्रजधामके प्रति निष्ठा प्रकाशकर व्रजवासके लिए दृढ़ संकल्प ग्रहण करते हुए कहते हैं—यदि किसी दूसरे धाममें श्रीकृष्णका श्रीविग्रह भी वर्त्तमान रहे और वहाँ प्रीतिपूर्वक महत्पुरुषोंके मुखसे निःसृत हरिकथाके रसास्वादनका सौभाग्य भी प्राप्त होता हो, तो मैं वैसे किसी भी दूसरे

धाममें क्षणकालके लिए भी वास करना नहीं चाहता, किन्तु व्रजभूमिमें ही ग्रामीण लोगोंके सङ्गमें ही ग्राम्यकथाओं (भगवत् इतर कथाओं)का आलाप करते हुए भी जन्म-जन्मान्तरोंमें निवास करूँगा।

उक्त ६४ अङ्गोंमें अन्तिम पाँच अङ्ग सर्वश्रेष्ठ हैं, अपराधसे दूर रहकर इनसे थोड़ासा भी सम्बन्ध स्थापन करनेसे इनके अद्भुत प्रभावसे भावावस्थाका उदय होता है। इन प्रधान अङ्गोंमें से किसी एक अङ्गके अथवा अनेकाङ्गोंके साधनमें निष्ठा होनेसे सिद्धि प्राप्त होती है॥४॥

अथ द्वात्रिंशत् सेवापराध वर्ज्जनीयाः

यथा आगमे—

यानैर्वा पादुकैर्वापि गमनं भगवद्गृहे।
देवोत्सवाद्यसेवाच अप्रणामस्तदग्रतः॥
उच्छिष्टे वाप्यशौचे वा भगवद्वन्दनादिकम्।
एकहस्तप्रणामश्च तत्पुरस्तात्प्रदक्षिणम्॥
पादप्रसारणंचाग्रे तथा पर्यङ्क-बन्धनं।
शयनं भक्षणंचापि मिथ्याभाषणमेव च॥
उच्चैर्भाषा मिथो ज्ल्प रोदनादि तदग्रतः।
निग्रहानुग्रहौ चैव निष्ठुरक्रूरभाषणम्॥
कम्बलावरणञ्चैव परनिन्दा परस्तुतिः।
अश्लीलभाषणञ्चैव अधोवायुविमोक्षणम्॥
शक्तौ गौणोपचारश्च अनिवेदित-भक्षणम्।
तत्तत्कालोद्भवानाञ्च फलादीनामनर्पणम्॥
विनियुक्तावशिष्टस्य व्यंजनादेः समर्पणम्।
पृष्ठीकृत्यासनञ्चैव परेषामभिवन्दनम्॥

गुरौ मौनं निजस्तोत्रं देवतानिन्दनं तथा।
अपराधास्तथा विष्णोर्द्वात्रिंशत् परिकीर्त्तिताः॥

वराहे च अपराधश्च तेऽपि संक्षिप्य लिख्यन्ते यथा— ''राजान्न–भक्षनं, ध्वान्तागारे हरेः स्पर्शः, विधिं विना हर्य्यूपसर्पणं, वाद्यं विना तद्द्वारोद्घाटनं, कुक्कुरादि–दुष्टभक्ष्य–संग्रहः, अर्च्चने मौनभंगः, पूजाकाले विड्ुत्सर्गाय गमनं, गन्धमाल्यादिकमदत्त्वा धूपनम्, अनर्हपुष्पेण पूजनम्।

अकृत्वा दन्तकाष्ठञ्च कृत्वा निधुवनं तथा।
स्पृष्ट्वा रजस्वलां दीपं तथा मृतकमेव च।
रक्तं नीलमधौतञ्च पारक्यं मलिनं पटं।
परिधाय, मृतं दृष्ट्वा विमुच्यापानमारुतं।
क्रोधं कृत्वा श्मशानञ्च गत्वा भुक्त्वाप्यजीर्णभुक्।
भुक्त्वा कुसुम्भं पिण्याकं तैलाभ्यगं विधाय च।
हरेः स्पर्शो हरेः कर्मकरणं पातकावहं॥

तथा तत्रैवान्यत्र—भगवच्छास्त्रानादर—पूर्वकमन्यशास्त्र—प्रवर्त्तनम्, श्रीमूर्तिसम्मुखे ताम्बूलचर्वणम्, एरण्डादि—पत्रस्थ—पुष्पैरर्चनम्, आसुरकाले पूजा, पीठे भूमौ वा उपविश्य पूजनम्; स्नपनकाले वामहस्तेनतत्स्पर्शः, पर्य्युषितै याचितैर्वा पुष्पैरर्चनम्, पूजायां निष्ठीवनम्, तस्यां स्वगर्वप्रतिपादनम्, तिर्यक्पुण्ड्र–धृतिः, अप्रक्षालित–पादत्वेऽपि तन्मन्दिरप्रवेशः, अवैष्णवपक्वनिवेदनम्, अवैष्णवदृष्टेन पूजनम्, विन्घेशमपूजयित्वा कपालिनं दृष्ट्वा वा पूजनम्, नखाम्भः स्नपनम्, धर्माम्बुलिप्तत्वेऽपि पूजनम्, निर्माल्यलंघनम्, भगवच्छपथादयोऽन्ये च ज्ञेयाः॥५॥

सेवापराध

श्रीबिन्दु-विकाशिनी-वृत्ति—सेवापराध आगमशास्त्रोंमें बत्तीस प्रकारके बतलाये गये हैं—(१) पादुका पहनकर मन्दिरमें जाना, (२) सवारीमें बैठकर मन्दिरमें जाना, (३) इष्टदेवके उत्सवोंका निरादर अथवा अनुष्ठान न करना, (४) अभीष्टदेवके सम्मुख उपस्थित होकर भी उन्हें प्रणाम न करना, (५) उच्छिष्ट अवस्थामें भगवान्‌की वन्दना करना, (६) अपवित्र अवस्थामें भगवान्‌की वन्दना करना, (७) एक हाथसे प्रणाम, (८) देवताको पीठ दिखाकर प्रदक्षिणा करना अर्थात् भगवान्‌की दाहिनी ओर पीठ पीछे और बाँयीं ओर जिस प्रकार परिक्रमाकी गयी है सम्मुख आने पर भी उसका परिवर्त्तन न कर प्रदक्षिणा करना, (९) श्रीविग्रहके आगे चरण फैलाना, (१०) उनके सामने हाथोंसे अपने घुटनोंको बाँधकर बैठना, (११) उनके आगे शयन करना, (१२) उनके सामने भोजन करना, (१३) श्रीविग्रहके सामने मिथ्या-भाषण करना, (१४) श्रीविग्रहके सामने उच्च स्वरसे बोलना, (१५) आपसमें वार्त्तालाप करना, (१६) श्रीविग्रहके सामने रोना, (१७) श्रविग्रहके सामने किसी पर अनुग्रह अथवा निग्रह करना (डांटना-फटकारना), (१८) उनके सामने किसीके प्रति निष्ठुर या क्रूर भाषाका प्रयोग, (१९) उनके सामने या सेवामें कम्बल धारण करना, (२०) उनके सामने किसीकी निन्दा करना, (२१) दूसरेंकी स्तुति करना, (२२) अश्लील भाषण करना, (२३) अधोवायु परित्याग करना, (२४) सामर्थ्य रहने पर भी गौण-उपचारसे सेवा करना अर्थात् अर्चनके समय पुष्प, तुलसी, धूप, दीप और नैवेद्यादि प्रधान-प्रधान सेवाके उपकरणोंको अर्पण करनेका

सामर्थ्य रहते हुए भी, जलादि गौण उपचार अर्पण करना, (२५) अनिवेदित वस्तुओंका भोजन, (२६) समयोपयोगी फल-फूलादि अर्पण न करना अर्थात् जिस ऋतुमें जो फलादि उत्पन्न होते हैं, उन ऋतुओंमें उन्हें भगवान्को अर्पण न करना, (२७) किसी भी वस्तुके अग्रभागको स्वयं भोजन कर अथवा दूसरोंको देकर उसका अवशिष्ट भाग भगवान्को अर्पण करना, (२८) श्रीविग्रहको पीठ दिखाकर बैठना, (२९) श्रीविग्रहके सम्मुख दूसरोंको प्रणाम अथवा अभिवादन करना, (३०) गुरुदेवके सामने मौन रहना अर्थात् स्तव, प्रणामादि न कर, उनके प्रश्नोंका उत्तर न देकर चुपचाप रहना, (३१) अपनी प्रशंसा करना, एवं (३२) देवताओंकी निन्दा करना। ये बत्तीस प्रकारके सेवापराध हैं, इनका परित्याग करना चाहिए।

वराहपुराणमें भी कुछ सेवापराध कहे गये हैं, जो संक्षेपमें इस प्रकार हैं—राजाका अन्न खाना, अन्धकारयुक्त गृहमें भगवान् (श्रीविग्रह)को स्पर्श करना, विधि बिना भगवान्के समीप जाना, घण्टादि वाद्यके बिना मन्दिरके द्वारको खोलना, कुत्ता आदिके उच्छिष्ट द्रव्यका संग्रह करना, पूजादिके समय बातचीत करना, पूजा करते समय मल-मूत्रादि त्याग करनेके लिए जाना, गन्ध-माल्यादि अर्पण न कर पहले ही धूप देना, निषिद्ध पुष्पोंसे पूजन करना, दन्तधावन न करके और स्त्री-संसर्गके बाद स्नानादिके बिना ही सेवा करना, रजस्वला-स्त्री, दीपक और मृतकको स्पर्श करके; रक्त, नीला और अधौत-वस्त्र या दूसरोंके वस्त्र या मलीन वस्त्र धारण करके सेवा करना, मृतकका दर्शन करके, अपान-वायुको त्यागकर, क्रोध करके, श्मशानमें जाकर,

अजीर्ण अवस्थामें, तेल-मर्दन करके श्रीविग्रहको स्पर्श एवं पूजनादि कार्य करना भी अपराध है।

अन्य शास्त्रोंमें भी कुछ सेवापराध दृष्टिगोचर होते हैं—जैसे भगवद् सम्बन्धी शास्त्रका अनादर कर दूसरे शास्त्रका प्रवर्तन करना, श्रीविग्रहके सामने ताम्बूल चर्वण करना, एरण्ड (रेंड़) आदिके निषिद्ध पत्तोंमें रखे हुए पुष्पादि द्वारा पूजन करना, आसुरिक बेलामें (समयमें) पूजा करना, चौकी पर बैठकर अथवा बिना आसनके पूजा करना, स्नानके समय बायें हाथसे श्रीविग्रहको स्पर्श करना, बासी एवं दूसरोंसे माँगे हुए पुष्पोंसे पूजन करना, पूजामें थूकना, 'मैं बहुत अच्छा पुजारी हूँ' ऐसी आत्मप्रशंसा करना, तिर्यक-पुण्ड्र धारण करना, पैर-प्रक्षालन किये बिना मन्दिरमें प्रवेश, अवैष्णवके द्वारा पकाये गये अन्नको श्रीहरिको अर्पण करना, अवैष्णवके सम्मुख पूजन करना, श्रीनृसिंहदेवकी पूजा न करके एवं कापालिक दर्शन कर पूजन करना, नाखूनसे छुये हुए जलसे श्रीविग्रहको स्नान कराना। अपने शरीरमें पसीना आने पर पूजन करना, भगवत्प्रसादी वस्तुओंका उल्लंधन करना, भगवान्‌की शपथ लेना—ऐसे और भी अनेक सेवापराध शास्त्रोंमें बतलाये गये है।

नामापराधका गुरुत्त्व

सर्वापराधकृदपि मुच्यते हरिसंश्रयात्।
हरेरप्यपराधान् यः कुर्याद्द्विपदपांशनः।
नामाश्रयः कदाचित् स्यात् तरत्येव स नामतः।
नाम्नोऽपि सर्व्वसुहृदो ह्यपराधात् पतत्यधः॥६॥

नामापराधका गुरुत्त्व

श्रीबिन्दु–विकाशिनी–वृत्ति—साधकोंको पूर्वोक्त अपराधोंसे सर्वथा सावधान रहना चाहिए। समस्त प्रकारके अपराधोंको करनेवाले व्यक्तिको भी श्रीहरिका चरणाश्रय करनेसे उद्धार हो जाता है। श्रीहरिके चरणोंमें भी जिसने घोर अपराध किया है, वह नराधम भी यदि कदाचित् श्रीहरिनामाश्रय करता है, तो केवल ये हरिनाम ही कृपाकर समस्त प्रकारके अपराधोंसे उसका उद्धार कर देते हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। इसलिए श्रीहरिनाम ही सबके परमबन्धु हैं। जो व्यक्ति ऐसे नामके चरणोंमें भी अपराध करते हैं, उनका अधःपतन अनिवार्य है॥६॥

नामापराधः

अथ नामापराध दश। यथा—वैष्णवनिन्दादि—वैष्णवापराधः, विष्णुशिवयोः पृथगीश्वरबुद्धिः, श्रीगुरुदेवे मनुष्यबुद्धिः, वेदपुराणादि शास्त्र–निन्दा, नाम्नि अर्थवादः, नाम्नि कुव्याख्या वा कष्टकल्पना, नामबलेन पापे प्रवृत्तिः, अन्य शुभकर्मभिनामसाम्यमननम्, अश्रद्धजने नामोपदेशः, नाम माहात्म्ये श्रुतेऽपि अप्रीतिः,—इति दशधा॥७॥

नामापराध

अनन्तर भगवन्नाममें दस प्रकारके नामापराधोंका वर्णन किया जा रहा है—

(१) वैष्णवोंकी निन्दादि वैष्णवापराध—

यहाँ आदि शब्दके द्वारा—

हन्ति निन्दति वै द्वेष्टि वैष्णवान्नाभिनन्दति।
क्रुध्यते याति नो हर्षं दर्शने पतनानि षट्।

(भक्तिसन्दर्भ धृत स्कन्दवचन)

अर्थात् वैष्णवोंको मारना-पीटना, निन्दा करना, द्वेष करना, अभिनन्दन न करना, उनके प्रति क्रोध करना, वैष्णवका दर्शन कर आनन्दित न होना—इन छह प्रकारके वैष्णवापराधोंसे अधःपतन हो जाता है।

(२) विष्णु और शिव इन दोनोंमें से शिवको विष्णुसे पृथक् स्वतन्त्र ईश्वर मानना।

(३) श्रीगुरुदेवमें मनुष्य-बुद्धि करना।

(४) वेद-पुराणादि शास्त्रोंकी निन्दा करना।

(५) श्रीहरिनाममें अर्थवाद करना अर्थात् शास्त्रोंमें जो हरिनामका माहात्म्य वर्णन किया है, वह वास्तवमें उनमें नहीं है, ऐसा मानना।

(६) श्रीहरिनामकी कुव्याख्या अर्थात् शास्त्र प्रसिद्ध अर्थको छोड़कर दुर्बुद्धिपूर्वक वृथा अर्थोंकी कल्पना करना। चूँकि भगवान् निराकार, अरूप, अनाम हैं, अतएव भगवान्का नाम भी काल्पनिक है, ऐसी कल्पना करना।

(७)श्रीहरिनाम उच्चारण मात्रसे समस्त पाप क्षय हो जाते हैं, नामकी ऐसी महिमा जानकर भी पुनः-पुनः पापकर्ममें प्रवृत्त होना।

(८) धर्मादि समस्त प्रकारके शुभकर्मोंको हरिनामके समान समझना।

(९) श्रद्धाहीन लोगोंको श्रीहरिनामका उपदेश करना।

(१०) श्रीनामकी माहिमा सुनकर भी नाममें प्रीति न रखना।

ये दस प्रकारके अपराध अवश्य ही वर्जनीय हैं। हरिभजन करनेमें सर्वप्रथम सेवापराध और नामपराधके विषयमें अत्यन्त सावधान रहना चाहिए। इन अपराधोंको

भजन-मार्गमें प्रबल विघ्न जानकर प्रयत्नपूर्वक इनका परित्याग करना कर्त्तव्य है। इनका परित्याग किये बिना भजनमें अग्रसर होना तो दूर है, साधकोंका अधःपतन होना अवश्यम्भावी है। अर्चनमें भी सेवापराध न हो, इस विषयमें भी साधकको सर्वथा सतर्क रहना चाहिए। श्रीविग्रहकी सेवामें अनजानेमें जो सेवापराध हो जाते हैं, भगवान् श्रीहरिके शरणापन्न होने, उनकी स्तव-स्तुति करने विशेषतः श्रीहरिनामके शरणापन्न होनेसे श्रीनाम कृपाकर उनके सेवापराधोंको क्षमा कर देते हैं। श्रीहरिनाम, श्रीविग्रहकी अपेक्षा भी अधिक दयालु हैं, किन्तु श्रीहरिनामका आश्रय करके भी यदि पुनः नामापराधके विषयमें सतर्क न हुए, तो पतन अवश्यम्भावी है।

वैधीभक्ति

अथ वैधी लक्षणं। श्रवणकीर्त्तनादीनि शास्त्रशासनभयेन यदि क्रियन्ते तदा वैधीभक्तिः॥८॥

अथात्र साधनादौ प्रवृत्ति-सामान्ये कुत्रचित् लोभस्य कारणत्वं कुत्रचित् शास्त्रशासनस्य। तत्र च यस्यां भक्तौ लोभस्य कारणत्वं नास्ति किन्तु शास्त्र शासनस्यैव सा वैधीत्याह यत्रेति। रागोऽत्र श्रीमूर्त्तेर्दर्शनाद्दशमस्कन्धीय-तत्तल्लीला श्रवणाद्भजने लोभस्तदनवाप्त-त्वात्तदनधीनत्वाद्धेतोः शास्त्रस्य शासनेनैव या प्रवृत्तिरूपजायते सा भक्तिर्वैधी उच्यते॥८॥

वैधीभक्ति

अब वैधीभक्तिका लक्षण कहते हैं—श्रवण-कीर्त्तनादि भक्ति अङ्गोंका अनुष्ठान यदि शास्त्रशासनके भयसे किया जाता है, तो उसे वैधीभक्ति कहते हैं॥८॥

श्रीबिन्दु-विकाशिनी-वृत्ति—भक्ति दो प्रकारकी होती है—वैधीभक्ति और रागानुगाभक्ति। इन दोनों प्रकारके भक्ति मार्गोंमें साधनाङ्गकी जो क्रिया होती हैं, वे साधारणतः एक ही समान प्रतीत होती हैं। फिर भी उनमें विशेष अन्तर होता है। कहीं लोभ ही भक्तिमें प्रवृत्तिका कारण होता है और कहीं शास्त्र-शासन ही भक्तिमें प्रवृत्तिका कारण होता है। उनमें से जिस साधन-भक्तिमें प्रवृत्तिका कारण लोभ नहीं है, बल्कि शास्त्र-शासन ही उक्त प्रवृत्तिका कारण है, उसे वैधीभक्ति कहा गया है।

यत्र रागानवाप्तत्वात् प्रवृत्तिरूपजायते।
शासनेनैव शास्त्रस्य या वैधीभक्तिरुच्यते॥

(भ॰र॰सि॰पू॰ २/६)

शास्त्र-शासन किसे कहते हैं, इसे समझना चाहिए। श्रीमद्भागवतादि शास्त्रोंमें सर्वत्र ही भगवद्भक्तिको जीवमात्रका परम कर्त्तव्य बतलाया गया है। मनुष्य अपने समस्त प्रकारके लौकिक कर्त्तव्योंको पूरा करने पर भी यदि हरिभजन नहीं करता है, तो वह घोर नरकमें ही जाता है।

य एषां पुरुषं साक्षदात्मप्रभवमीश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः॥

(श्रीमद्भा॰ ११/५/३)

श्रीचैतन्यचरितामृतमें श्रील कविराज गोस्वामीने इस श्लोकका भावार्थ निम्न पयारोंमें वर्णन किया है—

चारि वर्णाश्रमी यदि कृष्ण नाहि भजे।
स्वकर्म करितेओ से रौरवे पड़ि मजे॥

(चै॰च॰म॰ २२/२६)

अर्थात् भगवान्‌से ही चारों वर्ण एवं चारों आश्रम उत्पन्न हुए हैं, इसलिए जो व्यक्ति साक्षात्‌रूपसे अपने परमपिता परमेश्वरका भजन नहीं करते, उनकी अवज्ञा करते हैं, वे अपने स्थानसे अधःपतित हो जाते हैं। देवर्षि नारद कहते हैं—

तस्माद् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्।

अर्थात् जिस किसी भी उपायसे अपने मनको कृष्णमें लगाना ही सभी प्रकारके साधनोंका मूल तात्पर्य है। पद्मपुराणमें भी ऐसा कहा गया है—

स्मर्त्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्त्तव्यो न जातुचित्।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किंकराः॥

(पद्मपुराण)

शास्त्रोंमें जीवोंके लिए जो कर्त्तव्य निर्धारित किये गये हैं, उसे विधि कहते हैं और जिन्हें करनेके लिए मना किया गया है, उसे निषेध कहते हैं। विधिका पालन एवं निषेधका त्याग ही जीवोंके लिए वैध धर्म है। भगवान् विष्णुको सर्वदा स्मरण करना चाहिए—यही मूलविधि है। वर्ण और आश्रमकी समस्त विधियाँ इस मूलविधिके अनुगत हैं। भगवान्‌को कभी मत भूलो—यही मूल निषेध है। पापोंका निषेध, विमुखताका वर्जन, पापोंका प्रायश्चितादि उक्त मूल निषेध-विधिके अनुगत हैं। इन विधि-निषेधोंका पालन करना ही शास्त्रोंका शासन मानना है। शास्त्रोंके इस शासन-भयसे भक्तिमें जीवोंकी प्रवृत्ति होने पर उसे वैधीभक्ति कहते हैं।

श्रीविग्रहका दर्शन करनेसे, श्रीमद्भागवतके दशम-स्कन्धमें वर्णित श्रीकृष्णकी बाल्य, पौगण्ड और कैशोर लीला-माधुरियोंका

श्रवण करनेसे भजनके लिए 'लोभ' उत्पन्न होता है। यह लोभ जहाँ उत्पन्न नहीं हुआ है अर्थात् जहाँ भक्तिमें प्रवृत्तिका कारण लोभ नहीं है, उस प्रवृत्तिका हेतु केवल शास्त्र-शासन है, उसीका नाम वैधीभक्ति है।

रागानुगाभक्ति

अथ रागानुगा-लक्षणं।—निजाभिमतब्रजराजनन्दनस्य सेवा प्राप्तिलोभेन यदि तानि क्रियन्ते तदा रागानुगा भक्तिः। यदुक्तं—

सेवा साधक-रूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि।
तद्भाभावलिप्सुना कार्या व्रजलोकानुसारतः॥
कृष्णं स्मरन् जनञ्चास्य प्रेष्ठं निजसमीहितम्।
तत्तत्कथारतश्चासौ कुर्याद्वासं व्रजे सदा॥९॥

साधकरूपेण यथावस्थितदेहेन सिद्धरूपेण अन्तश्चिन्तिताभीष्ट तत्-सेवोपयोगिदेहेन। तस्य व्रजस्थस्य श्रीकृष्णप्रेष्ठस्य यो भावो रति-विशेष स्तल्लिप्सुना। व्रजलोकास्तत्तत्कृष्णप्रेष्ठजनाः श्रीराधा-ललिता-विशाखा-रूप मञ्जर्याद्या (१) स्तदनुगताः श्रीरूपगोस्वामि-प्रभृतयश्च (२) तेषामनुसारतः। तथा च सिद्धरूपेण मानसी सेवा श्रीराधा-ललिता-विशाखा-श्रीरूपमञ्जर्यादीनामनुसारेण कर्त्तव्या। साधकरूपेण कायिक्यादि सेवातु श्रीरूप-सनातनादि व्रजवासिनामनुसारेण कर्त्तव्येत्यर्थः। एतेन व्रजलोकपदेन व्रजस्थ श्रीराधा-ललिताद्या एवग्राह्यास्तासामनुसारेणैव साधकदेहेन कायिक्यादि-सेवापि कर्त्तव्या। एवं सति ताभिर्गुरुपदाश्रयणै-कादशीव्रत शालग्राम तुलसी सेवादयो न कृतास्तदनुगतेरस्माभिरपि न कर्त्तव्या इत्याधुनिकानां विमतमपि निरस्तम्। अतएव श्रीजीवगोस्वामिचरणैरपि अस्य ग्रन्थस्य टीकायां तथैवोक्तं। यथा—व्रजलोकास्तत्तत्कृष्णप्रेष्ठजनास्तदनुगताश्च इति।

अथ रागानुगायाः परिपाटीमाह कृष्णमित्यादिना। प्रेष्ठं स्वप्रियतमं किशोरं नन्दनन्दनं स्मरन् एवमस्य कृष्णस्य तादृश-भक्तजनम्। अथच स्वस्य सम्यगीहितं स्वसमानवासनमिति यावत्। तथाच तादृशं जनं स्मरन् व्रजे वासं सदा कुर्यात्। सामर्थ्ये सति श्रीमन्नन्दव्रजावासस्थान-वृन्दावनादौ शरीरेण वासं कुर्यात्। तदभावे मनसापीत्यर्थः ॥९ ॥

श्रीबिन्दु-विकाशिनी-वृत्ति—जो भक्तिसाधक अपने अभिलषित व्रजराजनन्दन श्रीकृष्णकी सेवा-प्राप्तिके लोभसे, पूर्वोक्त श्रवणकीर्त्तनादि भक्तयङ्गोंका अनुष्ठान करते हैं, उनके द्वारा अनुष्ठित उस भक्ति-परिपाटीको रागनुगाभक्ति कहते हैं।

रागानुगाभक्तिका अनुष्ठान दो प्रकारसे किया जाता है—साधक रूपसे अर्थात् यथावस्थित देह (बाह्यदेह) द्वारा और सिद्धरूपसे अपने अभिलषित प्रेमसेवाके उपयोगी अन्तश्चिन्तित देहके द्वारा व्रजस्थित अपने अभीष्ट श्रीकृष्णके एवं श्रीकृष्णके प्रिय परिकरोंके भाव या श्रीकृष्ण-विषयक रति प्राप्त करनेके लिए लुब्ध होकर, उन व्रजलोकके परिकरों—श्रीकृष्णके अत्यन्त प्रियजनों—श्रीराधिका-ललिता-विशाखा-श्रीरूपमञ्जरी आदि एवं उनके अनुगत श्रीरूपगोस्वामी, सनातन गोस्वामी आदिके अनुसार करना होता है। सिद्ध रूपसे मानसी-सेवा श्रीराधा-ललिता-विशाखा-श्रीरूपमञ्जरी आदि व्रजवासियोंके अनुसार करनी होगी तथा साधक रूपसे कायिकी सेवा श्रीरूप-सनातनादि व्रजवासी महानुभावोंके अनुसार करनी होगी।

यदि कोई यह शङ्का करता है कि 'व्रजलोक' पदसे श्रीराधा ललितादिको ही ग्रहण किया गया है, तब साधक

देहसे कायिकी सेवा भी श्रीराधा-ललितादिके अनुसार ही होनी चाहिए और यदि ऐसा ही हो, तब श्रीराधा-ललितादिने कभी भी श्रीगुरुपदाश्रय, एकादशीव्रत, शालग्रामसेवा, तुलसीसेवा आदि नहीं की थी; क्योंकि ऐसा कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। इसलिए उन नित्य परिकरोंका अनुसरणकारी हमलोगोंके लिए भी वे अङ्गसमूह करणीय नहीं हैं, किन्तु उपर्युक्त व्रजलोक[३] पदके द्वारा आधुनिक विरुद्ध मतावलम्बी इन शंकावादियोंका यह अपसिद्धान्त भी निरस्त हुआ। श्रीजीवगोस्वामीपादने भी श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थके इस

---

[३] **टीका—**हमारे श्रीषडगोस्वामियों एवं श्रीलकविराज गोस्वामी आदि रसिक वैष्णवाचार्योंके सिद्धान्त अनुसार व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णका लीलारस ही रागानुगीय साधकोंके लिए आस्वाद्य है, किन्तु श्रीकृष्णलीला रसका आस्वादन श्रीगौरलीलामें प्रवेशके बिना असम्भव है अर्थात् श्रीगौरलीलाके माध्यमसे ही कृष्णलीला रसका आस्वादन सम्भव है, श्रीलकविराज गोस्वामीने ऐसा कहा है—

कृष्णलीला अमृतसार तार शत शत धार
दशदिके बहे याहा हइते।
से चैतन्यलीला हय सरोवर अक्षय
मनोहंस चराह ताहाते॥

नानाभावे भक्तजन हंसचक्रवाकगन
याते सबे करेन विहार।
कृष्णकेलिमृणाल याहा पाई सर्वकाल
भक्तहंस करये आहार॥

(चै॰च॰म॰ २५/२६४, २६७)

श्रील नरोत्तमठाकुरने भी अपनी प्रार्थनामें ऐसा लिखा है—

गौर प्रेम रसार्णवे से तरङ्गे येवा डूबे।
से राधामाधव-अन्तरङ्ग॥

श्लोककी टीकामें ऐसी ही व्याख्या की है। यथा—'व्रजलोक' शब्दका तात्पर्य श्रीकृष्णके प्रियतमवर्ग एवं तदनुगत श्रीरूपगोस्वामी आदिसे है। अतएव सिद्ध देह द्वारा श्रीरूपमञ्जरी आदि व्रजवासियोंके अनुसार मानसी-सेवा एवं साधक-देह द्वारा श्रीरूपगोस्वामी आदिके अनुसरण पूर्वक कायिकी सेवा करनी चाहिए।

श्रील कविराजगोस्वामी एवं श्रील नरोत्तमठाकुरने रागानुगीय साधकोंके उद्देश्यसे ही उपर्युक्त पदोंकी अवतारणाएँ की हैं। अतः रागानुगीय साधकोंको गौरलीलाके माध्यमसे ही कृष्णलीलाका आस्वादन करना चाहिए। इसलिए साधकोंके लिए श्रीगौरलीलाका स्मरण और श्रीगौरपरिकरोंका अनुसरण करना भी आवश्यक है। जब गौरपरिकरोंका अनुसरण करना कर्त्तव्य है, तब यह निश्चित हो गया है कि श्रीगौरपार्षदप्रवर श्रील रूपगोस्वामी आदिके द्वारा आचरित गुरुपदाश्रय, एकादशीव्रत पालन, तुलसीसेवा, श्रीशालग्रामसेवा आदिका पालन करना भी आवश्यक कर्त्तव्य है। इस विष्यमें किसी भी प्रकारके सन्देहकी गुंजाइश नहीं है। श्रीगौरसुन्दरके नित्यपरिकर श्रीरूपगोस्वामी कृष्णलीलामें श्रीरूपमञ्जरीके रूपमें श्रीराधाकृष्णकी सेवा करते हैं। वे ही श्रील रूपगोस्वामीके रूपमें साधक-अभिमानसे युगल सेवा-प्राप्तिके लिए रोते-रोते सकातर प्रार्थना करते हैं, कभी-कभी ऐसी प्रार्थना करते-करते रूपमञ्जरीके आवेशमें डूबकर साक्षाद् सेवासुखका आस्वादन भी करते हैं। इसलिए रागानुगीय साधकोंको श्रीरूपसनातनादि गोस्वामियोंका अनुसरण करना आवश्यक कर्त्तव्य है। इसके विपरीत जो लोग अपनेको रसिक-साधक अभिमान कर गुरुपदाश्रय, एकादशी व्रत पालनादि भक्तिके अङ्गोंका पालन नहीं करते, उन लोगोंके लिए श्रीयुगलसेवाकी प्राप्ति कदापि सम्भव नहीं है।

यह विषय बहुत ही गम्भीर है। श्रीगुरुदेव अथवा शुद्धरसिक भक्तोंकी कृपाके बिना साधक अपनी सिद्ध देहकी भावना स्वयं नहीं कर सकता। अतः श्रील गुरुदेवके कृपानिर्देशसे ही अपनी नित्यसिद्ध देहकी भावना स्वयं उदित होती है। उसी नित्यसिद्धसे अष्टकालीय मानसी सेवा स्मरण करते-करते स्वरूपसिद्धि और अन्तमें वस्तुसिद्धि होती है, किन्तु यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि इस अप्राकृत दैनन्दिनी युगलसेवा-स्मरणमें

अब रागानुगा भक्तिकी परिपाटीका वर्णन कर रहे हैं। साधक अपने अभिलषित लीलाविलासी श्रीकृष्णका और अपने अभिलषित कृष्ण-प्रियतम जनोंका स्मरण करते-करते उनकी लीला-कथाओंमें अनुरक्त रहकर सर्वदा व्रजमें वास करेंगे। नवकिशोर-नटवर श्रीकृष्णका और साथ ही अपने अभिलषित भावापन्न अर्थात् अपनी वासनाके अनुरूप श्रीरूपमञ्जरी आदि श्रीकृष्णकी प्रिय सखियोंका स्मरण करना चाहिए। इस प्रकार स्मरण परायण होकर साधकको सदैव ब्रजमें वास करना चाहिए। शक्ति-सामर्थ्य रहने पर सशरीर वृदावनमें (वृन्दावन, नन्दगाँव, बरसाना, गोवर्धन, श्रीराधाकुण्ड आदि) वास करना चाहिए। अन्यथा मनसे ही व्रजवास करना चाहिए।

सबका अधिकार नहीं है। इस पद्धतिको विशेषरूपसे गुप्त रखना ही कर्त्तव्य है। अनधिकारी लोगोंको इन लीलाओंका श्रवण नहीं कराना चाहिए। जड़बद्ध जीवोंके हृदयमें जब तक रागमार्गमें प्रवेश करनेका यथार्थ लोभ उत्पन्न नहीं हो जाता, तब तक उनसे इस विषयको गुप्त रखना ही उचित है। भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, लीलाका अप्राकृतत्व अर्थात् ये सभी शुद्ध चिन्मय-स्वरूप हैं, यह भाव जब तक हृदयमें उदित नहीं होता, तबतक श्रीयुगलकी रहस्यपूर्ण रसमयी लीलाओंके श्रवणका अधिकार नहीं होता। अनधिकारी व्यक्ति इन लीलाओंका श्रवण या पाठकर केवल मायिक एवं जड़ीय स्त्री-पुरुषके सङ्गका ध्यानकर अधःपतित होनेके लिए बाध्य होते हैं, अतः वे व्यभिचारके पंकमें धंस जाते हैं। इसलिए सुधी पाठकगण सावधान होकर देवर्षि नारदकी भाँति अप्राकृत शृङ्गार-संस्कार लाभ कर ही इस लीलामें प्रवेश करें।

मूल तात्पर्य यह है कि साधक उपयुक्त अधिकारी होकर ही रागानुगा भक्तिका साधन करेंगे। बिना यथार्थ लोभ उत्पन्न हुए अनर्थयुक्त अवस्थमें इस साधन पद्धतिका अनुसरण करनेसे विपरीत फल होता है। व्रजभजनके लिए यथार्थ लोभ उत्पन्न होने पर सबसे पहले श्रीव्रजेन्द्रनन्दनाभिन्न

श्रीचैतन्यचरितामृतमें रागानुगाभक्ति अनुशीलनके सम्बन्धमें इस प्रकार कहा हैं—

बाह्य अभ्यन्तर—इहार दुइ त साधन।
बाह्ये साधक देहे करे श्रवण-कीर्त्तन॥
मने निज सिद्ध देह करिया भावन।
रात्रि दिने करे व्रजे कृष्णेर सेवन॥
(चै॰च॰म॰ २२/१५१-१५२)

श्रीगौरसुन्दरके किसी निजजनका आश्रय ग्रहण करना चाहिए। वे गौरप्रियजन हमारे अधिकारके अनुरूप हमें रागानुगा साधन-पथकी शिक्षा देंगे। अन्यथा कुसङ्गमें पड़कर उनके कुपरामर्शसे उन्नताधिकार भजनका अनुकरण करनेसे सिद्धदेहकी आड़में केवलमात्र कुफल ही प्राप्त होगा। कोई-कोई व्यक्ति 'व्रजलोकके अनुसार भजन करना चाहिए'का कदर्थ कर अपनेको ललिता और विशाखा आदि मानकर, पुरुषदेहको स्त्रीका रूप बनाकर भजन करते हैं। ऐसा करके अपना और दूसरोंका सर्वनाश ही किया करते हैं। 'मैं ललिता हूँ', 'मैं विशाखा हूँ' यह मायावादियोंकी अहंग्रहोपासना हो जाती है। तथा ललिता-विशाखा आदिके चरणेंमें भी वे अपराधी होकर घोर नरकको प्राप्त होते हैं।

व्रजगोपियोंके आनुगत्यके बिना युगलहकशोरकी मधुर-सेवामें और किसीका भी अधिकार नहीं है। उन सखियोंमें भी सखियेंके अनुगत मञ्जरी-सखियोंके अनुगत्यमें भजन करना ही श्रीमन्महाप्रभुको अभीष्ट है और यही श्रीमद्भागवत और हमारे गोस्वामियोंके द्वारा रचित शास्त्रों द्वारा अनुमोदित है। मञ्जरी भवका अनुसरण करनेके लिए श्रीगौरपरिवार रूप-सनातनका आनुगत्य अवश्य ही स्वीकार करना होगा। श्रील नरोत्तमठाकुरने स्वाभीष्ट लालसाके एक पदमें मञ्जरीभावकी उपासनाके गीतमें ऐसा कहा है—

श्रीरूपमञ्जरीपद सेई मोर सम्पद,
सेई मोर भजन-पूजन।
सेई मोर प्राणधन सेई मोर आभरण,
सेई मोर जीवनेर-जीवन॥

निजाभीष्ठ कृष्णप्रेष्ठ पाछे त लागिया।
निरन्तर सेवा करे अन्तर्मना हञा।
दास-सखा-पित्रादि प्रेयसीरगण॥
रागमार्गे निज-निज भावेर गणन।
एइ मत करे येवा रागानुगा भक्ति॥
कृष्णेर चरणे तार उपजय प्रीति।
(चै॰च॰म॰ २२/१५४, १५६, १५९)

अर्थात् श्रील नरोत्तमठाकुरजी कहते हैं कि श्रीरूपमञ्जरीके चरणकमल ही मेरे लिए श्रेष्ठ सम्पत्ति हैं, उनका चिन्तन और सेवन ही मेरा सर्वश्रेष्ठ भजन और पूजन है, वही मेरे प्राणसे भी प्रिय धन है, वही मेरे जीवनके अलङ्कार हैं, केवल यही नहीं, वे मेरे जीवनके भी जीवन-स्वरूप है।

और भी कहते हैं—

शुनियाछि साधुमुखे बले सर्वजन।
श्रीरूप-कृपाय मिले युगल-चरण॥
हा! हा! प्रभु सनातन गौर-परिवार।
सवे मिलि वाञ्छापूर्ण करह आमार॥
श्रीरूपेर कृपा येन आमा प्रति हय।
से-पद आश्रय यार, सेईमहाशय॥
प्रभु लोकनाथ कबे सङ्गे लञा जावे।
श्रीरूपेर पादपद्मे मोरे समर्पिवे॥

मैंने वैष्णव-साधुओंके मुखसे यह सुना है कि श्रील रूपगोस्वामीकी कृपासे ही श्रीयुगलचरणोंकी प्राप्ति होती है। वे हाहाकार करते हुए कहते हैं—हा सनातन प्रभु! गौरपरिवारके परम दयालु वैष्णवगण! आप सभी मिलकार मेरी अभिलाषाको पूर्ण करें। मेरी पुनः-पुनः प्रार्थना है, इन श्रीरूप गोस्वामीकी कृपा मेरे प्रति वर्षित हो। अहा! जिन्हें श्रील रूपगोस्वामीके चरणकमलोंका आश्रय मिल गया, वे ही सौभाग्यवान हैं। मेरे श्रील गुरुदेव श्रीलोकनाथ गोस्वामी मुझे कब अपने साथ लेकर, श्रीरूपगोस्वामीके निकट जायेंगे और उनके चरण-कमलोंमें मुझे समर्पित कर देंगे।

अर्थात् रागानुगा भक्तिका अनुशीलन दो प्रकारसे किया जाता है, साधक शरीरसे और सिद्ध शरीरसे। बाहरी साधक देहके द्वारा श्रवण–कीर्त्तनादि भक्त्यङ्गोंका पालन करना चाहिए। श्रीगुरुकृपासे स्फुरित अपने सिद्ध शरीरसे दिन–रात व्रजमें श्रीराधाकृष्ण युगलकी सेवा करनी चाहिए। अपने अभिलषित कृष्णके प्रियजनों (जिनकी सेवाके प्रति साधकका लोभ हो)का अनुसरण करते हुए, आविष्ट चित्तसे, युगलकिशोरकी निरन्तर सेवा करनी चाहिए। साधकोंको दास, सखा, मातापिता और कृष्णप्रेयसियोंमें से अपनी भावनाके अनुरूप किसी एकके भावका अनुसरण करनेसे उनके समान ही कृष्णके चरणोंमें प्रीति उत्पन्न होती है—श्रीरागानुगा भक्तिकी यही पद्धति है॥९॥

तत्र रागानुगायां स्मरणस्य मुख्यत्वम्। तच्च स्मरणं निजभावोचितलीलावेशस्वभावस्य श्रीकृष्णस्य तत्प्रियजनस्य च। तथैव कीर्त्तनादिकमपि अर्चनादावपि मुद्रान्यासादि–द्वारकाध्यानादि–रुक्मिण्यादि पूजादि कमपिनिजभावप्रातिकूल्यादागमादिशास्त्रविहितमपि न कुर्यादिति, भक्तिमार्गे किञ्चित् किञ्चित् अङ्गवैकल्येऽपि दोषाभाव स्मरणत्।

"न ह्यंगोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपि।
मया व्यवसितः सम्यङ निर्गुणत्वादनाशिषः॥"

(श्रीमद्भा॰ ११/२९/२०)

अंगिवैकल्ये तु अस्त्येव दोषः। यदुक्तं–

श्रुतिस्मृतिपुराणादि–पञ्चरात्रविधिं बिना।
ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते॥

यदि चान्तरे रागो वर्त्तते, अथच सर्वमेव विधिदृष्ट्यैव करोति, तदा द्वारकायां रुक्मिण्यादित्वं प्राप्नोति॥१०॥

श्रीबिन्दु-विकाशिनी-वृत्ति—पूर्वोक्त रागानुगा भक्तिमें स्मरणांग ही प्रधान है।[४] स्मरण भी निजभावोचित लीला-देश-स्वभाव-विशिष्ट कृष्ण एवं उनके प्रियजन सम्बन्धीय ही होना चाहिए। कीर्त्तनादि भक्तिके दूसरे अङ्ग भी निजभावोचित लीला-देश-स्वभाव-विशिष्ट श्रीकृष्ण और उनके प्रियजन सम्बन्धीय ही होने चाहिए। अर्चनादिमें भी मुद्रा-न्यासादि, द्वारकादिका ध्यान, द्वारकापुरवासी महिषियोंकी पूजा आदि भक्ति अङ्गोंका पालन करना, आगमादि शास्त्रोंमें विहित होने पर भी अपने भावके प्रतिकूल होनेके कारण इनका पालन करना कर्त्तव्य नहीं है।[५] इस प्रकार भक्तिमार्गमें कुछ-कुछ अङ्गहानि होने पर भी कोई दोष नहीं लगता। इस विषयमें भगवान् श्रीकृष्णने भक्त उद्धवजीसे ऐसा कहा है—

---

[४] यहाँ स्मरणकी प्रधानता होनेके कारण कुछ लोग रागोदय होनेके पूर्व अनर्थ युक्तावस्थामें ही निर्जन-भजनकी छलनाकर तथा अपनेको रागानुगा मानकर अष्टकालीय लीला स्मरण करनेका अभ्यास करने लगते हैं, किन्तु श्रुति-स्मृति-पुराणदि श्लोकमें वर्णित ऐकान्तिकी भक्तिका प्रदर्शन करना, उनके लिए उत्पातका कारण बन जाता है। कुछ अनर्थग्रस्त अनधिकारी व्यक्ति जहाँ-तहाँ तथाकथित सिद्धप्रणाली पानेका अभिनय कर अपनेको रागानुगा भक्तियाजनका अधिकारी मानने लगते हैं, किन्तु वास्तविक लोभ उत्पन्न हुए बिना कृत्रिम भवसे यह आधिकार प्राप्त नहीं किया जा सकता।

[५] विधिमार्गमें द्वारकाका भाव तथ ऐश्वर्यका सम्मिश्रण होनेसे इस वैधीमार्गसे व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णकी सेवा प्राप्त नहीं होती—

विधि मार्गे नाहि पाइये ब्रजे कृष्णचन्द्र॥

(चै॰च॰म॰ २२)

न ह्यंगोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपि।
मया व्यवसितः सम्यङ् निर्गुणत्वादनाशिषः॥
(श्रीमद्भा॰ ११/१९/२०)

अर्थात् हे उद्धव! मेरे विषयक श्रवण–कीर्त्तनादि–लक्षण–विशिष्ट भक्ति धर्मका अनुष्ठान आरम्भ करने पर उसमें कुछ–कुछ अङ्गहानि होने पर भी मूल भक्ति धर्मकी किञ्चित् मात्र भी हानि नहीं होती। क्योंकि यह भक्तिधर्म गुणातीत है। किसी भी प्रकार इसके ध्वंस होनेकी सम्भावना नहीं है, क्योंकि निष्काम भक्तोंके सम्बन्धमें यह धर्म मेरे द्वारा इसी प्रकार निश्चित् किया गया है।

परन्तु भक्ति मार्गमें वर्णाश्रमोचित क्रिया–कलापके न करनेसे अथवा कुछ–कुछ अङ्गहानि होनेसे दोष नहीं लगता है, यह ठीक है। किन्तु गुरुपदाश्रयादि अथवा श्रवण–कीर्त्तनादि भक्तिके मूल अङ्गोंमें हानि होनेका दोष अवश्य ही लगता है। अतः भक्तिके मूल अङ्गोंकी हानि न हो, इस विषयमें सावधान रहना चाहिए। शास्त्रोंमें भी ऐसा उल्लेख है—

श्रुतिस्मृतिपुराणादि–पञ्चरात्रविधिं बिना।
ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु धृत आगमवचन)

अर्थात् श्रुति–स्मृति–पुराण और नारदपञ्चरात्रादिमें उल्लिखित विधियोंका अतिक्रमण कर ऐकान्तिकी हरिभक्तिका अनुष्ठान करनेसे भी इसके द्वारा महा अनर्थोंकी ही सृष्टि होती है।

इसमें एक बात और है, जिसके अन्तःकरणमें व्रजवासियोंके भाव–प्राप्तिकी अभिलाषा (लोभ) है और जो भक्तिके सम्पूर्ण अङ्गोंका अनुष्ठान विधिमार्गके अनुसार ही करता है,

तो उस भक्तको द्वारकामें रुक्मिणी आदि पटरानियोंकी अनुगामिता ही प्राप्त होती है अर्थात् उन्हें द्वारकामें महिषीगति ही प्राप्त होती है॥१०॥

अत्रायं विवेकः व्रजलीलापरिकरस्थ–शृङ्गारादि–भावमाधुर्ये श्रुते "इदं ममापि भूयात्" इति लोभोत्पत्तिकाले शास्त्रायुक्त्येपेक्षा न स्यात्। तस्यांच सत्यां लोभत्वस्यैवासिद्धेः। न हि केनचित् कुत्रचित् शास्त्रदृष्ट्या लोभः क्रियते। किन्तु लोभ्ये वस्तुनि श्रुते दृष्टे वा स्वत एव लोभ उत्पद्यते। ततश्च तद्भावप्राप्तयुपायजिज्ञासायां शास्त्रापेक्षा भवेत्, शास्त्र एवं प्राप्तयुपाय लिखनात् नान्यत्र। तच्च शास्त्रं भजनप्रतिपादकम् श्रीभागवतमेव। तेषु भजनेष्वपि मध्ये कानिचित् तद्भावमयानि कानिचित् तद्भावसंबन्धीनि कानिचित् तद्भावानुकूलानि कानिचित् तद्भावाविरुद्धानि कानिचित् तद्भावप्रतिकूलानीति पंचविधानि साधनानि। तत्र दास्यसख्यादीनि भावमयान्येव। गुरुपदाश्रयतो मन्त्रजपादीनि तथा प्रेष्ठस्य निजसमीहितस्य तत्प्रियजनस्य च समयोचितानां लीलागुणरूपनाम्नां श्रवण–कीर्तन–स्मरणनि विविधपरिचरणानि च भावसम्बन्धीनि।

तत्प्राप्त्युत्कण्ठायामेकादशी–जन्माष्टमी–कार्त्तिकव्रत–भोगत्यागादीनि तपोरूपाणि तथाश्वत्थ–तुलस्यादि सम्माननादीनि तद्भावानुकूलान्येव। नामाक्षरमाल्यनिर्माल्यादिधारणप्रणामादीनि तद्भावाविरुद्धानि। उक्तान्येतानि सर्वाणि कर्माणि कर्त्तव्यानि। न्यासमुद्रा द्वारकादिध्यानादीनि तद्भावप्रतिकूलानि रागानुगायां वर्जनीयानि। एवं स्वाधिकारोचितानि शास्त्रेषु विहितानि कर्त्तव्यानि, निषिद्धानि तु सर्वाणि वर्जनीयानि॥११॥

श्रीबिन्दु–विकाशिनी–वृत्ति—इस सम्बन्धमें विशेष जानने योग्य विषय यह है कि व्रजलीलाके परिकरोंके शृंङ्गारादि भाव माधुर्यका श्रवण करने पर "ऐसा भाव हमारा भी हो

जाय” इस प्रकारका लोभ जिस समय उत्पन्न होता है, उस समय शास्त्रोक्त युक्तियोंकी अपेक्षा नहीं होती। शास्त्रोक्त युक्तियोंकी अपेक्षा रहने पर लोभत्वकी सिद्धि नहीं होती अर्थात् युक्तिकी अपेक्षा रहने पर यह समझना होगा कि अभी तक उस साधकमें लोभकी उत्पत्ति नहीं हुई है। क्योंकि शास्त्रयुक्तिको देखकर किसीको कभी भी लोभ होते नहीं देखा जाता। अपितु लोभनीय वस्तुकी बात श्रवण करनेसे अथवा लोभनीय वस्तुका दर्शन करनेसे अपने-आप लोभ उत्पन्न हुआ करता है। लोभोत्पत्तिके अनन्तर लोभनीय व्रजभाव किस प्रकार प्राप्त हो? ऐसी जिज्ञासा होने पर शास्त्रकी अपेक्षा होती है। क्योंकि शास्त्रोंमें ही उसकी प्राप्तिके उपाय लिखे हैं, अन्यत्र कहीं नहीं। जिस शास्त्रसे उक्त उपाय जाना जा सकता है, वह शास्त्रभी भगवत्-भजनकी रीतिका प्रतिपादन करनेवाला श्रीमद्भागवत ही है।

उन भजनाङ्गोंमें कुछ तद्भावमय, कुछ तद्भावसम्बन्धी, कुछ तद्भावानुकूल, कुछ तद्भाव-अविरुद्ध और कुछ तद्भावप्रतिकूल—ये पाँच प्रकारके साधन देखे जाते हैं।

(१) उनमें से दास-सख्यादिको **भावमय साधन** कहते हैं। (दास्यसख्यादि भावमय श्रवण-कीर्त्तनादि साधकके भावी प्रेमतरुका पोषण करते हैं, अतः दास्यसख्यादिको भावमय साधन कहा जाता है।)

(२) गुरुपदाश्रयसे लेकर मन्त्रजपादि, प्रियतम श्रीकृष्ण और निजाभिलषित तथा कृष्णके प्रियजनोंके समयानुकूल लीला-गुण-रूप और नामका श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण एवं विविध परिचर्या **भावसम्बन्धी साधन** हैं। (भावके उपादान कारणको भावसम्बन्धी कहते हैं। जिसके द्वारा भाव परिपक्व

होता है, उसको उपादान कहते हैं। गुरुपदाश्रयादिसे भाव गठित होता है, अतः इन अङ्गोंको भावसम्बन्धी साधन कहा जाता है।)

(३) निजाभिलषित भाव-प्राप्तिकी उत्कण्ठासे एकादशी, जन्माष्टमी, कार्त्तिक व्रत और कृष्ण प्रीतिके लिए भोग-त्यागादि तपस्या रूप अङ्गसमूह एवं पीपल, तुलसी, प्रभृतिका सम्मान आदि अङ्ग-समूह भावके अनुकूल होते हैं अर्थात् भावप्राप्तिमें सहायक होते हैं, अतः इनको **भावानुकूल साधन** कहते हैं।

(४) श्रीहरिनामाक्षर, माल्य और निर्माल्यादि धारण तथा प्रणामादि अङ्गोंको भावाविरुद्ध साधन कहते हैं। अपने भावके प्रतिकूल न होना ही भावाविरुद्ध है। पूर्वोक्त भक्ति अंगोंका पालन करना कर्त्तव्य है।

(५) न्यास, मुद्रा और द्वारका ध्यान आदि अङ्गसमूह निजाभिलषित भावके प्रतिकूल होनेके कारण रागानुगा भक्तिमें वर्जनीय हैं। इस प्रकार अपने-अपने अधिकारके अनुसार शास्त्रविहित अङ्गोंका अनुष्ठान करना कर्त्तव्य है तथा निषिद्ध अङ्गसमूह वर्जनीय हैं॥११॥

भावभक्ति

अथ साधनभक्तिपरिपाकेन कृष्णकृपया तद्भक्तकृपया वा भावभक्तिर्भवति। तस्य चिह्नानि, नव प्रीत्यंकुराः, यथा—

क्षान्तिरव्यर्थकालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता।
आशाबन्धः समुत्कण्ठा नामगाने सदारुचिः॥
आसक्तिस्तद्गुणाख्याने प्रीतिस्तद्वसतिस्थले।
इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जातभावांकुरे जने॥

(भ॰र॰सि॰ १/३/२५-२६)

तदा कृष्णसाक्षात्कार योग्यता भवाति। मुमुक्षुप्रभृतिषु यदि भावचिह्नं दृश्यते तदा भावबिम्ब एव नतु भावः। अज्ञजनेषु भावच्छाया॥१२॥

भावभक्ति

श्रीबिन्दु–विकाशिनी–वृत्ति—इसके बादमें अब भावभक्ति[६]का वर्णन किया जा रहा है। यह उक्त भाव किसी भी साधनके द्वारा प्राप्त नहीं होता है। बल्कि श्रवण–कीर्त्तनादि भक्तिका अनुष्ठान करते–करते जब वह भक्ति परिपक्व अवस्थामें उपस्थित होती है, तब वह साधकके चित्तको स्वयं ही निर्मल कर देती है, उस समय श्रीकृष्णकी कृपासे या भगवद्भक्तोंकी कृपासे यह भावभक्ति स्वयं ही निर्मल चित्तमें आविर्भूत होती है। भावभक्ति आविर्भूत होने पर निम्नलिखित नौ प्रकारके लक्षण देखे जाते हैं। यथा—

---

[६]शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक्।
रुचिभिश्चित्तमासृन्यकृदसौ भाव उच्यते॥
(भ॰र॰सि॰ पू॰वि॰ ३ लहरी १ श्लोक)

अर्थात् शुद्धसत्त्व विशेष–स्वरूप, प्रेमरूप सूर्यकी किरण–सदृश एवं रुचिके द्वारा चित्तको स्निग्ध अर्थात् आर्द्रकारिणी भावभक्ति (कृष्णानुशीलन)को श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तीठाकुरने उक्त श्लोंकको टीकामें इस प्रकार लिखा है—पूर्वोक्त साधन भक्ति रुचि (भगवद् प्राप्तिकी आनुकूल्य अभिलाषा और सौहार्द अभिलाषा)के द्वारा चित्तकी आर्द्रता सम्पादन करने पर उसे भाव–भक्ति कहते हैं। उसका स्वरूप है—शुद्धसत्त्वविशेषात्मा। शुद्धसत्त्व कहनेसे भगवान्‌की स्वरूपशक्तिकी स्वप्रकाश सम्वित् वृत्तिका बोध होता है। शुद्धसत्त्वविशेष पदसे स्वरूपशक्तिकी दूसरी ह्लादिनी नामक महाशक्तिका बोध होता है। इससे शुद्धसत्त्व विशेषमें उक्त ह्लादिनीकी सर्वोच्चावस्थ महाभाव भी अन्तर्भुक्त है, ऐसा समझना होगा। अतएव सम्वित् और ह्लादिनी दोनों शक्तियोंके सम्मिलित सार–स्वरूपमें भगवान्‌के नित्यपरिकरोंके

क्षान्तिरव्यार्थकालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता।
आशाबन्धः समुत्कण्ठा नामगाने सदा रुचिः॥
आसक्तिस्तद्गुणाख्याने प्रीतिस्तद्वसतिस्थले।
इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जातेभावांकुरे जने॥

हृदयमें तादात्मभावसे अवस्थित आनुकूल्य इच्छामय परम-प्रवृत्तिको ही शुद्धसत्त्वविशेषात्मा समझना चाहिए। दूसरे सरल शब्दोंमें श्रीकृष्णके नित्यप्रियजनोंके आधारमें स्थित नित्यसिद्ध भावको ही शुद्धसत्त्वविशेषात्मा कहा जाता है। यह भावभक्ति, प्रेमभक्ति रूप सूर्यकी प्राथमिक किरणोंके समान है। इसलिए इसे प्रेमांकुर भी कहते हैं।

श्रीभक्तिविनोद ठाकुरने श्रीचैतन्यचरितामृतमें उक्त श्लोककी व्याख्या सरल सहज शब्दोंमें की है—पाठकोंकी सुविधाके लिए उसे उद्धृत कर रहे हैं—प्रेमभक्ति ही साधन भक्तिका फल है। प्रेमभक्तिकी दो अवस्थाएँ हैं—भाव अवस्था और प्रेम अवस्था। प्रेमसूर्यके साथ तुलना करने पर भावको उस प्रेम-सूर्यकी किरण कहा जा सकता है। भाव-विशुद्ध सत्त्व-स्वरूप रुचि द्वारा चित्तको आर्द्र करता है। पहले भक्तिका साधारण लक्षण बतलाते हुए जिस कृष्णानुशीलनका उल्लेख किया गया है, वही कृष्णनुशीलन जिस अवस्थामें विशुद्धसत्त्व-स्वरूप हो पड़ता है और रुचिके द्वारा चित्तको कोमल अर्थात् आर्द्र करता है, उसी अवस्थाको भाव कहते हैं। भाव मनोवृत्ति पर आविर्भूत होकर मनोवृत्तिकी स्वरूपताको प्राप्त कर लेता है। तत्त्वतः भाव स्वयं प्रकाशरूप है, परन्तु मनोवृत्तिगत होकर प्रकाश्य (जिसे प्रकाशित किया जाय)के रूपमें प्रतीत होता है। यहाँ जिसको भाव कहा गया है, उसीका दूसरा नाम रति है। रति स्वयं आस्वाद-स्वरूप होने पर भी कृष्ण आदि विषयको आस्वादन करनेमें हेतुके रूपमें ग्रहण की गयी है। यहाँ यह जान लेना चाहिए कि रति चित्-तत्त्वका भाव है, वह जड़ान्तर्गत तत्त्व नहीं है। बद्धजीवोंकी जड़विषयोंमें जो रति होती है, वह उस जीवके चिद्विभागगत भाावकी जड़सम्बन्धसे उत्पन्न विकृति मात्र है। जिस समय जड़में भगवद् अनुशीलन होता है, उस समय वह रति सम्विदंशसे भगवत् सम्बन्धी आलोच्य विषयोंके आस्वादनका हेतु होती है। उसी समय ह्लादिनीके अंशसे स्वयं आह्लाद प्रदान करती है।

अर्थात् क्षान्ति, अव्यर्थकालत्व, विरक्ति, मानशून्यता, आशाबन्ध, समुत्कण्ठा, नामगानमें रुचि, भगवद्गुणाख्यानमें आसक्ति, भगवद्वसति स्थलमें प्रीति—ये प्रीतिके नौ अंकुर हैं अर्थात् भाव उत्पत्तिके लक्षण हैं।

(१) क्षान्ति—चित्त क्षुब्ध होनेका कारण उपस्थित होने पर भी चित्तका क्षुब्ध न होना क्षान्ति कहलाता है।

(२) अव्यर्थकालत्व—अन्यान्य व्यर्थके वैषयिके कार्योंमें नियुक्त न रहकर केवल भगवद् भजनमें ही समय व्यतीत करनेका नाम अव्यर्थकालत्व है।

(३) विरक्ति—सांसारिक विषय-भोगोंमें स्वाभाविक अरुचिका नाम विरक्ति है। हृदयमें भाव उदित होने पर चिज्जगतके प्रति रोचकता क्रमशः प्रबल होती है और जड़जगतकी रोचकता क्रमशः नष्ट हो जाती है। इसीका नाम यथार्थ विरक्ति है। यह स्वाभाविक विरक्ति उदित होने पर अभाव संकोचके उद्देश्यसे जो लोग वेश ग्रहण करते हैं, उन्हें विरक्त वैष्णव कहा जा सकता है। किन्तु भावोदयसे पूर्व ही जो वेश ग्रहण कर लेते हैं, उनका वेशग्रहण अवैध है। श्रीमन्महाप्रभुने छोटे हरिदासको दण्ड देनेके माध्यमसे जगतको यही शिक्षा दी है।

(४) मानशून्यता—अपने उत्कर्षके रहने पर भी मानरहित रहना ही मानशून्यता है। जाति, वर्ण, आश्रम, धन, बल, सौन्दर्य, उच्च पदादिसे मानका उदय होता है। इन सबके रहने पर भी जिनके हृदयमें उक्त भाव उदित हो जाता है, वे साधक उन सब प्रकारके मानोंका सहज ही त्याग कर देते हैं। पद्मपुराणके अनुसार कोई विख्यात् राजा कृष्णभक्ति होने पर राज्य-सम्पत्तिका अभिमान सर्वथा त्यागकर अपने

शत्रु–राजाके नगरमें माधुकरी द्वारा जीवन–निर्वाह कर भजन करने लगे, वे ब्राह्मण और चाण्डाल सबकी सर्वदा वन्दना किया करते थे।

(५) आशाबन्ध—श्रीकृष्ण मुझ पर अवश्य ही कृपा करेंगे—इस प्रकार दृढ़ विश्वासके साथ भजनमें मनोनिवेश करनेका नाम आशाबन्ध है।

(६) समुत्कण्ठा—अपने अभीष्ट लाभके प्रति जो गुरुतर लोभ होता है, उसे समुत्कण्ठा कहते हैं।

(७) नामगानमें सदा रुचि—हरिनाम गानके निमित्त जो प्रेममय पिपासा होती है, उसे नामगानमें सदा रुचि कहते हैं।

(८) गुणाख्यानमें आसक्ति—श्रीभगवान्‌के परम मधुर गुणोंके वर्णनमें जो स्वाभाविक आसक्ति होती है, उसे गुणाख्यानमें आसक्ति कहते हैं। गुणाख्यानमें आसक्तिका तात्पर्य यह है कि कृष्णके गुणोंका आख्यान अर्थात् गुणमयी मधुर लीलाओंके वर्णन और श्रवण करनेमें जातभाव भक्तोंकी पिपासा नहीं मिटती। वे जितना ही वर्णन और श्रवण करते हैं, उनकी पिपासा उतनी ही अधिक होती जाती है।

(९) तद्‌वसति–स्थलमें प्रीति—श्रीवृन्दावन, श्रीनवद्वीप आदि भगवद्धाममें वास करनेकी अभिलाषाको तद्‌वसति–स्थलमें प्रीति कहते हैं। [जैसे (क) कोई भक्त व्रजमण्डलकी परिक्रमामें वृन्दावन पहुँचकर व्रजवासियोंसे भाव–विभोर होकर पूछता है, "हे व्रजवासियों! सेवाकुञ्ज कहाँ है, निधुवन और वंशीवट कहाँ है?" कोई व्रजवासी भक्त उसका हाथ पकड़ कर सेवाकुञ्जमें उन्हें पहुँचा देता है। वे सेवाकुञ्ज पहुँचकर वहाँके प्रांगणमें जमीन पर लोटपोट होने लगते हैं और कहते हैं, "अहो इसी स्थान पर रसिकशेखर व्रजेन्द्रनन्दनने हमारी

आराध्यादेवी श्रीमती राधिकाकी चरणसेवा की थी। हे सेवाकुञ्ज! हे यहाँके धूलिकण! हे यहाँकी लताओ एवं वृक्षो! आप हमारे प्रति कृपा करें। हमें कब सेवाकुञ्जकी कृपा प्राप्त होगी इत्यादि।" इसे तद्वसतिस्थलमें प्रीति कहते हैं। (ख) नवद्वीपधामकी परिक्रमाके समय कोई भक्त अश्रुपुलकित नेत्रोंसे पूछता है—"हे धामवासियो! हमारे गौरसुन्दरका जन्म किस स्थान पर हुआ था? वे किस मार्गसे भक्तोंके साथ कीर्त्तन करते हुए निकलते थे। धामवासियों द्वारा उन स्थानोंका दर्शनकर भावसे गद्गद होकर भूमिमें लोटपोट करने लगता है और कहता है—"अहो! यही मायापुर धाम है, यह व्रजसे सर्वथा अभिन्न होने पर भी ब्रजसे अधिक कृपा वितरणकारी है। हे गौरजन्मस्थान! आप इस अधम पर कृपा करें।" ऐसा कहते-कहते वह भक्त भावविभोर हो जाता है। इसको तद्वसतिस्थलमें प्रीति कहते हैं। इन स्थनोंमें प्रीतिपूर्वक निवास कर भजन करना भी तद्वसति स्थलमें प्रीतिके अन्तर्गत है।]

जिन साधकोंके हृदयमें भावका अंकुर उत्पन्न हो गया है, उनमें ये नौ प्रकारके अनुभाव प्रकट हो जाते हैं। जिस भक्तमें ये प्रीतिके अंकुर दृष्टिगोचर हों, तब ऐसा समझना होगा कि इस भक्तमें कृष्णके साक्षात्कारकी योग्यता हो गयी है।

भोग और मोक्षकी कामना करनेवाले कर्मी और ज्ञानियोंमें यदि उल्लिखित भावके कोई चिह्न दिखायी पड़ें, तो उसे भावका प्रतिबिम्ब[७] या रत्याभास समझना चाहिए।

---

[७] **प्रतिबिम्ब रत्याभास—**अभेद ब्रह्मवादियों अथवा उनके अधीन कल्पित देव-देवियोंके उपासकोंके हृदयमें भक्तसङ्गके कारण भक्तहृदयमें स्थित-रतिका प्रतिबिम्ब होना ही प्रतिबिम्ब रति कहलाती है। किसी

उसे भाव नहीं समझना चाहिए। और यदि अज्ञव्यक्तियोंमें भक्तोंके सङ्गसे भावके चिह्न दिखायी दें, तो उसे छायारूप भक्त्याभास कहा जा सकता है।

प्रेमभक्ति

भावभक्तिपरिपाक एव प्रेमा। तस्य चिह्नम्—विघ्नादिसम्भवेऽपि किंचिन्मात्रस्यापि न ह्रासः। ममत्वातिशयात् प्रेम्न एव उपरितनोऽवस्थाविशेषः स्नेहः। तस्य चिह्न, चित्तद्रवीभावः। ततो रागः। तस्य लक्षणं निबिड़ स्नेहः। ततः प्रणयः। तस्य लक्षणं गाढ़विश्वासः ॥१३ ॥

प्रेमभक्ति

भावभक्तिकी परिपक्वावस्थाका नाम ही प्रेम है। विघ्नबाधाओंके उपस्थित होने पर भी भावका किञ्चित्मात्र ह्रास न होना ही प्रेमका चिह्न है। ममताकी अधिकतासे

भक्तके सात्त्विक विकारोंके माधुर्यको देखकर, पूर्वोक्त मुक्ति पक्षीय लोगोंमें कीर्त्तनादिके समय या अन्य उत्सवोंमें सात्त्विक विकारोंकी जो अनुकृति (अनुकरण स्वरूप) होती है, उसे ही प्रतिबिम्ब रति कहते हैं। ब्रह्मज्ञानके बिना मुक्ति नहीं हाती, ब्रह्मज्ञानकी प्रक्रिया अत्यन्त क्लेशजनक एवं कठिन है, केवल हरिनाम करनेसे ऐसी मुक्ति सहज ही मिल जायेगी, ऐसा सोचकर अश्रुपुलकादि विकारोंका अभ्यास करने पर प्रतिबिम्ब रत्याभास होता है।

छायारति—जात-भावभक्तोंके सङ्गसे अथवा वैधीभक्तिके साधनके समय शुद्धारति अत्यन्त अल्पमात्रामें जब प्रकाशित होती है, तब उसे छायारति कहते हैं। छायारति स्थायी नहीं होती। साधारण अतत्त्वज्ञ लोगोंमें भी भक्तसङ्गके प्रभावसे कभी-कभी ऐसी रति देखी जाती है। छाया अर्थात् शुद्धरतिकी कान्ति स्वरूपा रतिका उदित होना भी जीवोंके लिए बड़े सौभाग्यकी बात है, क्योंकि इसके उदित होनेसे जीवोंका उत्तरोत्तर कल्याण होता है।

प्रेमकी ऊपरी अवस्था विशेषको स्नेह कहते हैं। स्नेहका चिह्न (लक्षण) चित्तका द्रवीभूत होना है। इससे भी ऊपरकी अवस्थाका नाम राग है। उसका लक्षण निविड़ स्नेह है। उससे ऊपरकी अवस्थाका नाम प्रणय होता है। प्रणयका चिह्न गाढ़ विश्वास होता है॥१३॥

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थमें प्रेमकी परिभाषा-स्वरूप कहा गया है—

सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयांकितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

अर्थात् जो भाव अपनी प्रथम दशासे भी चित्तकी अतिशय आर्द्रता सम्पादन कर परमानन्दकी अतिशय वृद्धि करता है तथा कृष्णके प्रति प्रगाढ़ ममता प्रदान करता है, उसी भावको विद्वज्जन प्रेम कहते हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने उक्त श्लोककी टीकाका अनुवाद इस प्रकार किया है—

पूर्वोक्त रूपमें भावका वर्णन कर प्रेमके विषयमें बतला रहे हैं। जब भाव अपनी पूर्वावस्थासे भी गाढ़ा हो जाता है, तब वह अन्तर्स्थित चित्तको पहलेकी अपेक्षा भी अतिशय स्निग्ध, आर्द्र या कोमल बनाने लगता है, घनानन्दकी अनुभूति कराता है तथा कृष्णके प्रति अतिशय ममता प्रदान करता है—भावकी इस परिपक्व अवस्थाको प्रेम कहते हैं। यहाँ यह शंका उपस्थित होती है कि सांख्य मतानुसार उपादान कारण अपनी पूर्वावस्थाका त्यागकर कार्यरूपमें परिणत हो जाता है। उस समय पूर्वावस्था रूप कारण नहीं रहता। जैसे—गुड़ किसी विकारके योगसे अपना पूर्वरूप छोड़कर खांड बन जाता है। खांड बनने पर गुड़की स्थितिकी पृथक्‌रूपमें कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि गुड़ ही खांड हो गया है। उसी प्रकार खांड चीनी बन जाता है और चीनी मिश्री बन जाती है। मिश्रीकी अवस्थामें गुड़, खांड और चीनीकी कोई पृथक् सत्ता नहीं रहती है। इसी प्रकार भाव परिपक्व होने पर भावकी पृथक् सत्ता क्यों रहती है? प्रेम भी परिपक्व होने पर क्रमशः स्नेह, मान, प्रणय,

राग, अनुराग, भाव और महाभावका रूप धारण करता है, तब उस समय केवल महाभाव ही विद्यमान रहे; रति, प्रेम, स्नेह, मानादि पूर्व-पूर्व अवस्थाएँ क्यों विद्यमान रहें? समाधान—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कृष्णकी ह्लादिनी शक्तिकी एक विशेष श्रेष्ठ वृत्ति ही रति है। रति, स्नेह, मान, प्रणयादि श्रीकृष्णकी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे अपनी पूर्वावस्थाका त्याग किये बिना ही उत्तरोत्तर अवस्थाओंको प्राप्त होते हैं। प्रत्येककी पृथक्-पृथक् स्थिति भी अवश्य स्वीकार्य है। उदाहरण-स्वरूप कहा जा सकता है कि श्रीकृष्णकी बाल्यदेह ही माधुर्यादि विशेषको प्राप्तकर बाल्यावस्थाका परित्याग किये बिना ही पौगण्ड देह हो जाती है और पुनः पौगण्ड देह ही उससे भी अधिक माधुर्योत्कर्ष प्राप्त होकर कैशोर देह हो जाती है। प्राकृत जीवोंके शरीरकी भाँति कृष्णदेहमें आयुसे उत्पन्न विकार कदापि सम्भव नहीं है, श्रीकष्णके बाल्य, पौगण्ड और कैशोरादि देह और उनसे सम्बन्धित लीलाएँ सभी नित्य हैं, किन्तु पौगण्डका प्रकाश होने पर इस ब्रह्मण्डसे बाल्यदेह अन्तर्हित होकर अगले दूसरे ब्रह्माण्डमें प्रकट हो जाती है। साथ-ही-साथ बाल्यलीलाएँ भी उस दूसरे ब्रह्माण्डमें ही पहुँच जाती हैं। इसलिए भौम वृन्दावनीय अप्रकट प्रकाशमें जहाँ बाल्यलीला आरम्भ होती है, वहीं बाल्यदेह भी प्रकट हो जाती है। ब्रह्माण्डके आगामी कल्पके वैवस्वत् मन्वन्तरमें इसी ब्रह्माण्डमें जब वृन्दावनका प्रकट प्रकाश होगा, उस समय इसी ब्रह्माण्डमें पुनः बाल्यदेह प्रकट होगी। इसीलिए नित्य वस्तुका आविर्भाव और तिरोभाव मात्र ही ग्रहण किया जाता है। रति, प्रेमादि स्थायीभावयुक्त भक्तोंके हृदयमें जब जिस भक्तमें कारणके संयोगसे जो स्थायी भाव उदित होता है, उस समय उसी स्थायी भावकी बाहरमें अभिव्यक्ति होती है। अन्यान्य भावसमूह उस समय अन-अभिव्यक्त अवस्थामें विश्राम करते हैं। सांसारिक कामी, क्रोधी जीवोंमें काम-क्रोधादिमें से कोई एक भाव प्रकाशित होने पर भी अन्य भावसमूह संस्कारके रूपमें उसीमें (जीवमें) ही अवस्थित रहते हैं, सुयोग पाते ही आत्मप्रकाश करते हैं। इसी प्रकार रति-प्रेमादि सहाय आदिके योगसे भी अभिव्यक्त होते हैं और कभी अन्तर्निहित रहते हैं ॥१३॥

भक्तिरस

विभावानुभाव–सात्विकभाव–व्यभिचारिभाव–मिलनेन रसो भवति। यत्र विषये भावो भवति स विषयालम्बनविभावः कृष्णः। यो भावयुक्तो भवति स आश्रयालम्बन–विभावो भक्तः।

ये कृष्णं स्मारयन्ति वस्त्रालङ्कारादयस्ते–उद्दीपनविभावाः। ये भावं ज्ञापयन्ति ते अनुभावा नृत्यगीतस्मितादयः। ये चित्तं तनुंच क्षोभयन्ति ते सात्विकाः। ते अष्टौ—स्तम्भस्वेदरोमाञ्चस्वरभेदवेपथु–वैवर्ण्याश्रुप्रलया इति। ते धूमायिता ज्वलिता दीप्ता उद्दीप्ता सूद्दीता इति पंचविधा यथोतरसुखदाः स्युः। एते यदि नित्यसिद्धे तदा स्निग्धाः। यदि जातरतौ तदा दिग्धाः। भावशून्य जने यदि जातास्तदा रुक्षाः। मुमुक्षुजने यदि जातास्तदा रत्याभासजाः। कर्मिजने विषयिजने वा यदि जातास्तदा सत्त्वाभासजाः। पिच्छिलचित्तजने तदभ्यासपरे वा यदि जातास्तदा निःसत्वाः। भगवद्द्वेषि जने यदि जातास्तदा प्रतीपाः ॥१४॥

भक्तिरस

श्रीबिन्दु–विकाशिनी–वृत्ति—स्थायीभावरूप कृष्णरति जब विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारी भाव द्वारा श्रवण–कीर्त्तनादिके माध्यमसे भक्तोंके लिए आस्वादनीय होती है, तो उसको भक्तिरस कहते हैं। अर्थात् कृष्णरतिरूप स्थायी भाव जब विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारी भावोंके साथ मिलकर भक्तके हृदयमें आस्वादनोपयोगी होता है, उसे भक्तिरस कहते है।

विभाव्यते हि रत्यादिर्यत्र येन विभाव्यते।
विभावो नाम सद्वेधालम्बनोद्दीपनात्मकः॥

(भ॰र॰सि॰ २/१/१५)

कृष्णरति पाँच प्रकारकी होती है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। जिसमें और जिसके द्वारा रति विभावित होती है—आस्वाद्यके रूपमें प्रकाशित होती है, उसे विभाव कहते हैं। विभाव दो प्रकारके होते हैं—आलम्बन और उद्दीपन। जिसमें रति विभावित होती है, उसे आलम्बन विभाव तथा जिससे रति विभावित होती है, उसे उद्दीपन विभाव कहते हैं। आलम्बन विभाव भी दो प्रकारके होते

अर्थात् जिसमें (भक्तादिके विषयमें) और जिस हेतुके द्वारा रति विभावनीय अर्थात् आस्वादनीय होती है, उसे विभाव कहते है। आलम्बन और उद्‌दीपन भेदसे विभाव दो प्रकारके होते है।

अनुभावास्तु चित्तस्थभावानामववोधकाः।
ते वहिर्विक्रिया प्रायाः प्रोक्ता उद्‌भास्वराख्यया॥

(भ॰र॰सि॰ २/२/१)

अर्थात् अन्तःचित्त स्थित भावोंका बोध करानेवाली, बाहरमें विकारकी भाँति प्रतीयमान क्रियाओंको अनुभाव कहते हैं। इन्हें उद्‌भास्वर भी कहा जाता है।

कृष्णसम्बन्धिभिः साक्षात् किञ्चिद्वा व्यवधानतः।
भावैश्चित्तमिहाक्रान्तं सत्त्वमित्युच्यते बुधैः॥

(भ॰र॰सि॰ २/३/१)

अर्थात् कृष्ण-सम्बन्धी दास्य-सख्यादि पाँच प्रकारकी मुख्य रतियों द्वारा साक्षात्‌रूपसे अथवा हास्य-करुणादि सात गौण रतियोंके द्वारा कुछ व्यवधानसे आक्रान्त चित्तको विद्वत्‌जन सत्त्व कहते हैं। केवल सत्त्वसे ही उत्पन्न होने पर भावसमूह सात्त्विक होते हैं।

पूर्वकथित नृत्यगीतादि अनुभावसमूह बुद्धिपूर्वक प्रवृत्तिवशतः सात्त्विकभाव नहीं होते हैं। किन्तु स्तम्भपुलकादि स्वतः ही सत्त्वसे उदित होते हैं। इसलिए इन्हें सात्त्विक कहते हैं।

हैं—विषयालम्बन और आश्रयालम्बन। जिसके प्रति रति होती है, उसे विषयालम्बन तथ जो रतिके आधार होते हैं, उन्हें आश्रयालम्बन कहते हैं। कृष्णरतिके श्रीकृष्ण ही विषयालम्बन हैं तथा भक्तसमूह आश्रयालम्बन हैं। जिसके द्वारा रति उद्दीपित होती है अर्थात् वस्त्रालङ्कार, बसन्त ऋतु, यमुना-पुलिन, कुञ्ज, गो, मयूर आदि जो वस्तुएँ श्रीकृष्णका स्मरण करा देती हैं, उन्हें उद्दीपन विभाव कहते हैं। भावोंको प्रकाशित करनेवाले मधुरहास्य, नृत्य, गीतादिको अनुभाव कहते हैं। जो चित्त और शरीरमें क्षोभ उत्पन्न कराते हैं, उनका नाम सात्त्विक भाव है। ये सात्त्विक भाव आठ प्रकारके होते हैं। यथा—स्तम्भ (जड़ता), स्वेद (पसीना), रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, कम्प, वैवर्ण (रङ्ग बदलना), अश्रु और प्रलय (मूर्च्छा)। ये सात्त्विक भावसमूह भी धुमायित, ज्वलित, दीप्त, उद्दीप्त और सुद्दीप्त भेदसे पाँच प्रकारके होते हैं। ये उत्तरोत्तर अधिक सुखप्रद होते हैं, किन्तु स्निग्ध सात्त्विक भाव केवल नित्यसिद्ध भक्तोंमें ही प्रकट होते हैं। जातरति (अर्थात् जिनमें रति उदित हो गयी है) भक्तोंमें सात्त्विक भावको दिग्द्धभाव कहा जा सकता है। अजातरति व्यक्तियोंमें कदाचित ये भावसमूह दीखने पर उन्हें रूक्ष भाव कहा जाता है, मुमुक्षु व्यक्तियोंमें सात्त्विक भाव दृष्टिगोचर

विभावैरिति। एषा कृष्णरतिरेव स्थायी भावः सैव भक्तिरसो भवेत्। कीदृशी सतीत्याह विभावैरिति। श्रवणदिभिः कर्त्तृभिर्विभावादिभिःकरणैर्भक्तानां हृदि स्वाद्यत्यमानीता सम्यक् प्रापिता॥१४॥

टीकाका अर्थ—यह कृष्णरति ही स्थायी भाव है, वही भक्तिरस होती है। कैसे भक्तिरस होती है? उत्तर—विभावके मिलनेसे अर्थात् श्रवण-कीर्त्तनादिके माध्यमसे विभावादिके द्वारा हृदयमें आस्वादनीय होती है॥१४॥

होने पर रत्याभासज, कर्मी या विषयी व्यक्तियोंके सात्त्विक भावोंको सत्त्वभासज, पिच्छल स्वभावयुक्त व्यक्तियों या अभ्यासके द्वारा उत्पन्न सात्त्विक भावोंको निःसत्त्व एवं भगवद्‌विद्वेषी जनोंके सात्त्विक भावोंका नाम प्रतीप सात्त्विक भाव है॥१४॥

अथ व्यभिचारिणः स्थायिभाव–पोषका भावाः कदाचित्काः।
निर्वेदोऽथ विषादो, दैन्यं ग्लानिश्रमौ च मदगर्वौ
शंका–त्रासावेगा उन्मादोऽपस्मृतिस्तथा व्याधिः
मोहो मृतिरालस्यं, जाड्यं ब्रीडावहित्था च
स्मृतिरथ वितर्क–चिन्ता–मति–धृतयो हर्ष–उत्सुकत्वंच
औग्रामर्षासूयाश्चापल्यञ्चैव निद्रा च
सुप्तिर्बोध इतीमे, भावा व्यभिचारिणः समाख्याताः॥

अथैषाम्–लक्षणम्—आत्मनिन्दा निर्वेदः, अनुतापोविषादः, आत्मनि अयोग्यबुद्धिर्दैन्यम्, श्रमजन्यदौर्बल्यं ग्लानिः, नृत्याद्युत्थः स्वेदः श्रमः, मदो मधुपानादिमत्तता, अहंकारी गर्वः, अनिष्टाशंकनं शंका, अकस्मादेव भयं त्रासः, चित्त–सम्भ्रम आवेगः, उन्मत्तता

विशेषणभिमुख्येन चरन्ति स्थायिनं प्रति॥ इति व्यभिचारिणिः।

(भ॰र॰सि॰ २/४/१)

अर्थात् विशेष भावसे (विशेष रूपमें सहायता करते हुए) स्थायी भावकी ओर गमन करते हैं। स्थायी भावके प्रति चरण अर्थात् गमनशील अथच वाक्य, अङ्ग व सत्त्वको संसूचित करनेवाले भावोंको व्यभिचारी भाव कहते हैं। अर्थात् भावके प्रति संचारण करते हैं, अतः इन्हें संचारी भाव भी कहते हैं। व्यभिचारी भाव समूह तरङ्गकी भाँति स्थायी भाव रूपी अमृत–समुद्र उन्मज्जन और निमञ्जन करते हुए स्थायी भाव समुद्रकी वृद्धि कर पुनः उसीमें लीन हो जाते हैं।

उन्मादः, अपस्मारो व्याधिरपस्मृतिः ज्वरतापो व्याधिः, मूर्च्छैव मोहः, मृतिर्मरणम्, आलस्यम्—स्पष्टम्, जाड्यं जड़ता, लज्जैव व्रीड़ा, आकारगोपनमवहित्था, पूर्वानुभूतवस्तु—स्मरणम् स्मृतिः, अनुमानं वितर्कः, किं भविष्यतीति भावना चिन्ता, शास्त्रार्थनिर्धारणं मतिः, धृतिर्धैर्यम्, हर्ष आनन्दः, उत्कण्ठैव औत्सुक्यम्, तीक्ष्णस्वभावता औग्र्यम्, असहिष्णुता अमर्षः, गुणेऽपि दोषारोपणमसूया स्थैर्ये अशक्तिश्चापल्यम्, सुषुप्तिरेव निद्रा, स्वप्नदर्शनं सुप्तिः, जागरणं बोधः अविद्याक्षयश्च, इति व्यभिचारिणः ॥१५॥

श्रीबिन्दु—विकाशिनी—वृत्ति—अनन्तर स्थायीभावके पोषक ३३ प्रकारके व्यभिचारी भाव होते हैं—निर्वेद (आत्मनिन्दा), विषाद (अनुताप), दैन्य (अपनेमें अयोग्यताका बोध), ग्लानि (श्रमजनित दुर्बलता), श्रम (नृत्यादिसे उत्पन्न पसीना), मद (मधुपान आदिसे जनित मत्तता), गर्व (अहंकार), शंका (अनिष्टकी आशंका), त्रास (अकस्मात् भय), आवेग (चित्त सम्भ्रम), उन्माद (उन्मत्तता), अपस्मृति (अपस्मार नामक व्याधि), व्याधि (ज्वरका उत्ताप), मोह (मूर्च्छा), मृति (मरण), आलस्य (अलसता), जाड्य (जड़ता), व्रीड़ा (लज्जा), अवहित्या (आकार या भावको छिपाना), स्मृति (पूर्वानुभूत वस्तुका स्मरण), वितर्क (अनुमान), चिन्ता (अब क्या होगा ऐसी भावना), मति (शास्त्रके अर्थका निर्धारण), धृति (धैर्य), हर्ष (आनन्द), औत्सुक्य (उत्कण्ठा), औग्र्य (उग्र स्वभाव), अमर्षा (असहिष्णुता), असूया (गुणोंमें दोषारोपण), चापल्य (चञ्चलता), निद्रा (सुषुप्ति), सुप्ति (स्वप्नदर्शन), बोध (जागरण अर्थात् अविद्याका क्षय)—ये ३३ व्यभिचारी भाव कहलाते हैं॥१५॥

भावप्रकाशका तारतम्य

किञ्च भक्तानां चित्तानुसारेण भावानां प्राकाट्यतारतम्यं भवति। तत्र क्वचित् समुद्रवद्गम्भीरचित्तेऽपि अप्राकट्यम् स्वल्पप्राकट्यं वा। अल्पखातवत्तरलचित्ते अतिशयप्राकट्यं च भवतीति नायमात्यन्तिक नियम इति प्रपञ्चो न लिखितः ॥१६॥

भावप्रकाशका तारतम्य

भक्तजनोंके चित्तके अनुसार ही भावोंके प्राकट्यमें तारतम्य होता है। जैसे कहीं समुद्रके समान गम्भीर चित्तवाले भक्तमें इन भावोंका प्रकाश देखा नहीं जाता अथवा स्वल्प मात्रामें इनका प्रकाश देखा जाता है और छोटे-छोटे गड्ढेके समान चञ्चल चित्तमें भी कभी इन भावोंको अधिक रूपमें प्रकाशित देखा जाता है। इसलिए इस सम्बन्धमें विशेष कोई नियम न होनेके कारण इस विषयका विस्तार पूर्वक वर्णन नहीं किया गया है॥१६॥

स्थायीभाव

सामान्यरूपः स्वच्छरूपश्च शान्तादिपञ्चविधरूपश्च। एकैकरस-निष्ठभक्त सङ्गरहितस्य सामान्यजनस्य सामान्यभजनपरिपाकेण सामान्यरतिरूपश्च स्थायी भावो यो भवति स सामान्यरूपः। शान्तादिपञ्चविधभक्तेष्वपि अविशेषेण कृतसङ्गस्य तत्तद्भजनपरिपाकेण पञ्चविधा रतिस्तत्तद्भक्तसङ्गवसतिकालभेदेन योदयते यथा कदाचित् शान्तिः कदाचित् दास्यं, कदाचित् सख्यं, कदाचित् वात्सल्यम्, कदाचित् कान्ताभावश्च, न त्वेकत्र निष्ठत्वं तदा स्वच्छरतिरूपः। अथ पृथक्-पृथक् रसैकनिष्ठेषु भक्तेषु शान्त्यादिपञ्चविधरूपः। शान्तभक्तानां शान्तिः। दास्यभक्तानां दास्यरतिः। सख्यभक्तानां सख्यम्।

वात्सल्यभक्तानां वात्सल्यम्। उज्ज्वलभक्तानां प्रियता। एवं शान्तदास्यसख्यवात्सल्योज्ज्वलाश्च पञ्च मुख्यरसा यथोत्तरं श्रेष्ठाः। शान्ते श्रीकृष्ण–निष्ठ–बुद्धि–वृत्तिता, दास्ये सेवा, सख्ये निःसम्भ्रमता, वात्सल्ये स्नेहः, उज्ज्वले सङ्गि–सङ्गदानेन सुखमुत्पाद्यम्। एवं पूर्व–पूर्व–गुणादुत्तरोत्तरस्थाः श्रेष्ठाः स्युः॥१७॥

स्थायीभाव

श्रीबिन्दु–विकाशिनी–वृत्ति—यहाँ स्थायी भावका वर्णन किया जा रहा है। स्थायी भाव तीन प्रकारके होते हैं—सामान्य, स्वच्छ और शान्तादि पञ्चविधरूप। जिसने कभी भी केवल एक रसनिष्ठ भक्तका सङ्ग नहीं किया, फिर भी साधारण भजनके परिपाकसे शान्तादि भावरहित सामान्य (साधारण) एक प्रकारकी रतिका ही उदय हुआ है, ऐसे सामान्य जनकी सामान्य रतिको ही 'सामान्य स्थायी भाव' कहते हैं। जिसने साधारण रूपसे शान्तादि पाँचों प्रकारके भाववाले भक्तोंका सङ्ग किया है और भजनके परिपाकसे यदि उसमें पाँचों प्रकारकी रतियाँ उन–उन भक्तोंके सङ्गमें अवस्थितिके समय भेदसे उदित होती हैं अर्थात् शान्त भक्तोंके साथ शान्ति, दास्य भक्तोंके साथ दास्य, सख्य भक्तोंके साथ सख्य, वात्सल्य भक्तोंके साथ वात्सल्य और

अविरुद्धान विरुद्धांश्च भावान् यो वशतां नयन्।
सुराजेव विराजेत स स्थायी भाव उच्यते॥

(भ.सि.२।५।१)

अर्थात् हास्य इत्यादि अविरुद्ध एवं क्रोधादि विरुद्ध भावोंको वशीभूत कर अर्थात् अपने अधीन रखकर जो भाव सम्राटकी भाँति सुशोभित होता है, उसे स्थायी भाव कहते हैं।

कान्तभावभक्तोंके साथ कान्त भाव प्रकाशित होता है। अथच कोई एक निर्दिष्ट भावके प्रति उसकी निष्ठा नहीं होती, तो उसकी वैसी रतिको स्वच्छ स्थायीभाव कहा जाता है। और पृथक्-पृथक रसनिष्ठ भक्तोंके शान्ति आदि भावोंकी पृथक्-पृथक् रतिको ही शान्तयादि पञ्चविधरूप स्थायी भाव कहते हैं। किसी एक रसविशिष्ट भक्तके सङ्गके प्रभावसे भजनके परिपाक होने पर एक भक्तमें पाँचोंमें से केवल एक ही रति उदित होती है। शान्तादि भाव पाँच प्रकारके होते हैं। यथा शान्त भक्तोंका शान्ति, दास्य भक्तोंका दास्य, सख्य भक्तोंका सख्य, वात्सल्य भक्तोंका वात्सल्य और मधुर भक्तोंका प्रियता (शृङ्गार या मधुरा) स्थायी भाव है। इस प्रकार शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और उज्ज्वल या मधुर—ये पाँच मुख्य रस हैं। ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। शान्तका गुण—कृष्णनिष्ठा, दास्यका गुण—सेवा, सख्यका गुण सम्भ्रम-राहित्य, वात्सल्यका गुण स्नेह और मधुरका गुण अङ्ग-सङ्गदानके द्वारा सुख उत्पादन करना है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व गुणसे उत्तरोत्तर गुणको श्रोष्ठ समझना होगा ॥१७॥

क्रमानुसार पञ्चरसोंका विवेचन

शान्तरस

अथ शान्तरसे नराकृति परब्रह्म चतुर्भुजः नारायणः परमात्मा इत्यादि गुणः श्रीकृष्णो विषयालम्बनः। सनक सनन्दन सनातन सनत्कुमारादयः आश्रयालम्बनाः तपस्विनः। ज्ञानिनोऽपि मुमुक्षां त्यक्त्वा श्रीकृष्णभक्तकृपया भक्तिवासनायुक्ता यदि स्युस्तदा तेऽप्याश्रयलम्बनाः। पर्वत-शैलकाननादिवासिजनसङ्गसिद्धक्षेत्रादयः

उद्दीपनविभावाः। नासिकाग्रदृष्टिः अवधूतचेष्टा निर्ममता भगवद्द्वेषिजने न द्वेषः तद्भक्तजनेऽपि नातिभक्तिः मौनं ज्ञानशास्त्रेऽभिनिवेशः इत्यादयोऽनुभावाः। अश्रुपुलकरोमाञ्चाद्याः प्रलयवर्जिताः सात्त्विकाः। निर्वेदमतिधृत्यादय संचारिणः। शान्तिः स्थायी। इति शान्तरसः॥१८॥

शान्तरस

श्रीबिन्दु–विकाशिनी–वृत्ति—शान्तरसमें सच्चिदानन्द–विग्रह, नराकृति परब्रह्म, चतुर्भुज नारायण, परमात्मा एवं शान्त–दान्त–शुचि–वशी–हतारिगतिदायक–विभु आदि गुणसम्पन्न श्रीकृष्ण विषयालम्बन हैं। ममतारहित, भगवन्निष्ठ, भक्तिमार्गप्रदर्शक सनक–सनन्दन–सनातन–सनत्कुमारादि तपस्वीगण इस रसके आश्रयालम्बन हैं। ज्ञानी जन भी मोक्षकी वासनाको त्यागकर श्रीकष्णभक्तोंकी कृपासे यदि भक्तिकी वासना युक्त हो जायें, तो वे लोग भी आश्रयालम्बन हो सकते हैं। पर्वत–काननवासी साधुओंका सङ्ग और सिद्धक्षेत्रादि इस रसमें उद्दीपन विभाव हैं। अवधूतों जैसी चेष्टा, निर्ममता, भगवद् विद्वेषी जनोंके प्रति द्वेष–राहित्य, भगवद् जनोंके प्रति भी अत्यधिक प्रीतिका अभाव, मौन, ज्ञानशास्त्रमें अभिनिवेश आदि इसमें अनुभाव हैं। प्रलयको छोड़कर अश्रुपुलक, रोमाञ्चादि सात्त्विक भाव हैं। निर्वेद, मति, धृति, प्रभृति संचारी भाव हैं और शान्ति ही स्थायीभाव है॥१८॥

दास्यरस

अथ दास्ये रसे ईश्वरः प्रभुः सर्वज्ञः भक्तवत्सलः इत्यादि गुणवान् श्रीकृष्णो विषयालम्बनः। आश्रयालम्बनाश्चतुर्विधाः अधिकृतभक्ताः आश्रिताः पार्षदाः अनुगाश्चेति। तत्र ब्रह्मा, शंकर

इत्यादयोऽधिकृतभक्ताः। तत्र आश्रितास्त्रिविधः शरण्याः ज्ञानिचराःसेवा–निष्ठाः कालिय–जरासन्धमगधराज–बद्ध–राजादयःशरण्याः। प्रथमतो ज्ञानिनोऽपि मुमुक्षां परित्यज्य ये दास्ये प्रवृत्तास्ते सनकादयो ज्ञानिचराः। ये प्रथमत एव भजने रतास्ते चन्द्रध्वज–हरिहय–बहुला–श्वादयः सेवानिष्ठः। उद्धव–दारुक श्रुतदेवादयः पार्षदाः। सुचन्द्रमण्डनाद्याः पुरेः, रक्तकपत्रक मधुकण्ठादयो व्रजे अनुगाः। एषां सपरिवार एव कृष्णे ये यथोचित्भक्तिमन्तस्ते धुर्यभक्ताः ये कृष्णप्रेयसीवर्गे आदरयुक्ता स्ते धीरभक्ताः। ये तु तत्कृपां प्राप्य गर्वेण कमपि न गणयन्ति ते वीरभक्ताः। एतेषु गौरवान्वित–सम्भ्रम–प्रीतियुक्तास्तु प्रद्युम्नशाम्बादयः श्रीकृष्णस्य पाल्याः। ते सर्वे केचिन्नित्यसिद्धाः केचित् साधनसिद्धाः केचित् साधकाः। श्रीकृष्णानुग्रहचरणधूलीमहाप्रसादादय उद्दीपनविभावाः। श्रीकृष्णस्याज्ञा–करणादयोऽनुभावः। प्रेमा रागः स्नेहश्चात्र रसे भवति। अधिकृतभक्ते आश्रितभक्ते च प्रेमपर्यन्तो भवति स्थायी। पार्षद–भक्ते स्नेहपर्यन्तः। परीक्षित दारुके उद्धवे रागः प्रकट एव। व्रजानुगे रक्तकादौ सर्व एव। प्रद्युम्नादावपि सर्व्व एव। यावत्–पर्यन्तं श्रीकृष्णदर्शनं प्रथमतो भवति तावत्कालमयोगः। दर्शनानन्तरं यदि विच्छेद स्तदा वियोगः। तत्र दश दशाः। अङ्गेषु तापः कृशता जागर्या आलम्बनशून्यता अधृति जड़ता व्याधिरुन्मादो मूर्च्छितं मृतिश्च। इति दास्यरसः॥१९॥

दास्यरस

दास्य रसमें ईश्वर, प्रभु, सर्वज्ञ, भक्तवत्सल आदि गुणोंसे युक्त श्रीकृष्ण विषयालम्बन हैं। अधिकृत, आश्रित, पारिषद् और अनुगामी भेदसे चार प्रकारके भक्त ही आश्रयालम्बन हैं। उनमेंसे ब्रह्मा, शंकर आदि अधिकारी देवता होनेके कारण अधिकृत भक्त कहलाते हैं। शरण्य,

ज्ञानिचर और सेवानिष्ठ भेदसे आश्रित भक्त तीन प्रकारके होते हैं। कालियनाग, मगधराज-जरासन्ध द्वारा बन्दी बनाये गये राजागण आदि शरण्य भक्त हैं। पहलेसे ज्ञानी होने पर भी पितामह ब्रह्माजीकी कृपा (सङ्ग)से मोक्षकी अभिलाषाको छोड़कर दास्य रसमें प्रवृत्त होनेवाले सनक-सनन्दनादि चारों कुमार ज्ञानिचर भक्त हैं। जो पहलेसे ही सेवानिष्ठ हैं, वे सेवानिष्ठ भक्त कहलाते हैं। चन्द्रध्वज, हरिहय, बहुलाश्व आदि सेवानिष्ठ भक्त हैं। उद्धव, दारुक, श्रुतदेव आदि क्षत्रियगण तथा उपानन्द आदि गोपगण पारिषद भक्त हैं। द्वारकापुरीमें सुचन्द्र और मण्डनादि तथा व्रजमें रक्तक, पत्रक और मधुकण्ठादि अनुगामी भक्त कहलाते हैं। इन भक्तोंमें जो परिवारके साथ कृष्णके प्रति यथोचित भक्ति रखते हैं। वे धुर्यभक्त कहलाते हैं। जो श्रीकृष्णकी प्रेयसियोंके प्रति अधिक श्रद्धा सम्पन्न हैं, उन्हें धीर भक्त कहते हैं। जो कृष्णकी कृपाको प्राप्त करके गर्वसे किसीकी अपेक्षा नहीं रखते, वे वीर भक्त हैं। इन सब सम्भ्रम प्रीतियुक्त भक्तोंमें कृष्णके प्रति गुरुत्व बुद्धि विशिष्ट्य प्रद्युम्न-शाम्बादि श्रीकृष्णके पाल्य हैं।

पूर्वोक्त भक्त नित्यसिद्ध, साधन सिद्ध और साधक भेदसे तीन प्रकारके होते हैं। श्रीकृष्णकी कृपा, चरणरज और महाप्रसादादि दास्य रसमें उद्दीपन हैं। श्रीकृष्णकी आज्ञा-पालन आदि अनुभाव हैं। दास्यरसकी तीन अवस्थाएँ—प्रेम, स्नेह और राग हैं। उनमें से अधिकृत और आश्रित भक्तोंमें प्रेमपर्यन्त स्थायीभाव होता है। पार्षद भक्तोंमें स्नेह पर्यन्त स्थायीभाव होता हैं। परीक्षित, दारुक और उद्धवमें रागपर्यन्त देखा जाता है। व्रजके रक्तकादिमें तथा द्वारकाके प्रद्युम्नादिमें प्रेम, स्नेह, राग सभी देखे जाते हैं। दास्यरसमें अयोग और

वियोग—ये दो अवस्थाएँ होती हैं। श्रीकृष्ण-दर्शनसे पूर्वकी अवस्थाका नाम अयोगावस्था है। दर्शनके उपरान्त विच्छेद (वियोग)का नाम वियोगावस्था है। वियोगमें अङ्गताप, कृशता, जागरण, आलम्बनशून्यता या अनवस्था, अधीरता, जड़ता, व्याधि, उन्माद, मूर्च्छा और मृत्यु (मृत्यु तुल्यावस्था)—ये दस दशाएँ होती हैं॥१९॥

सख्यरस

अथ सख्यरसे विदग्धो बुद्धिमान् सुवेशः सुखीत्यादिगुणः श्रीकृष्णो विषयालम्बनः। आश्रयालम्बनाः सखायश्चतुर्विधाः। सुहृदः सखायः प्रिय सखायः प्रियनर्मसखायश्च। ये कृष्णस्य वयसाधिकास्ते सुहृदः किचिद्वात्सल्यवन्तः। ते सुभद्रमण्डलीभद्रबलभद्रादयः। ये किंचिद् वयसा न्यूतास्ते किंचिद्दास्यमिश्राः सखायः। ते विशाल-वृषभ-देवप्रस्थादयः। ये वयसा तुल्यास्ते प्रियसखायः श्रीदाम-सुदामवसुदामादयः। ये तु प्रेयसी रहस्य-सहायाः शृङ्गार भावस्पृहास्ते प्रियनर्मसखायः सुबलमधुमङ्गलार्जुनादयः। श्रीकृष्णस्य कौमार-पौगण्ड कैशोरान् वयांसि शृङ्गवेणुदलवाद्यादयश्च उद्दीपन विभावः। तत्र प्रमाणं—'कौमारं पंचमाब्दान्तं पौगण्डं दशमावधि। कैशोरमापंचदशं यौवनन्तु ततः परम्।' अष्टमासाधिकदशवर्षपर्यन्तं श्रीकृष्णस्य व्रजे प्रकटविहारः। अतएव श्रीकृष्णस्याल्पकालत एव वयोवृद्ध्या मासचतुष्टयाधिकवत्सरत्रयपर्यन्तं कौमारम्। ततः परमष्टमासाधिकषड वर्षपर्यन्तं पौगण्डम्। ततः परमष्टमासाधिकदशवर्षपर्यन्तं कैशोरम्। ततः परमपि सर्वकालं वाप्य कैशोरमेव। दशवर्षं शेषकैशोरम्। तत्रैव सदा स्थितिः। एवं सप्तमे वर्षे वैशाखे मासि कैशोरारम्भः। अतएव प्रसिद्धः पौगण्डमध्ये प्रेयसीभिः सह विहारः। तासामपि तथाभूतत्वादिति प्रसगांत् लिखितम्। सख्ये बाहुयुद्धखेला

एकशयाशयनादयोऽनुभावाः। अश्रुपुलकादयः सर्वे एव सात्त्विकाः। हर्षगर्वादयः सञ्चारिणः साम्यदृष्ट्या निःसम्भ्रमतामयः विश्वासविशेषः सख्यरतिः स्थयी भावः। अथ प्रणयः प्रेमा स्नेहो रागः सख्येन सह पञ्चविधः स्यात्। अन्यत्र अर्जुनभीमसेन श्रीदामविप्राद्याः सखायः। तत्रापि वियोगे दश दशाः पूर्ववत् ज्ञातव्याः। इति सख्यरसः॥२०॥

श्रीबिन्दु-विकाशिनी-वृत्ति—सख्यरसमें विदग्ध (रसिक, पटु), बुद्धिमान, सुवेश और सुखी आदि गुणेंसे युक्त श्रीकृष्ण ही विषयालम्बन हैं। ममतायुक्त, विश्वासभावमय, श्रीभगवन्निष्ठ, अपने आचरण द्वारा दूसरोंके उपकारी, सख्य-सेवा परायण कृष्णके सखावृन्द आश्रयालम्बन हैं। सुहृद, सखा, प्रियसखा और प्रियनर्मसखा भेदसे चार प्रकारके सखा होते हैं। उनमें से कृष्णकी अपेक्षा कुछ अधिक आयुवाले तथा किञ्चित् वात्सल्ययुक्त व्रजके सुभद्र, मण्डलीभद्र और बलभद्र प्रभृति सुहृत् सखा हैं। आयुमें कृष्णसे कुछ कम किञ्चित् दास्यसे मिश्रित विशाल, वृषभ और देवप्रस्थ आदि सखा कहलाते हैं। आयुमे कृष्णके समतुल्य सुदाम, श्रीदाम, वसुदाम आदि प्रियसखा कहलाते हैं। प्रेयसी रहस्यके शृङ्गार-भावशाली सुबल, मधुमङ्गल और अर्जुन आदि प्रियनर्मसखा हैं।

श्रीकृष्णकी कौमार, पौगण्ड और कैशोर वयस (उम्र) तथा शृङ्ग, वेणु, वंशी और पत्रनिर्मित वाद्यादि उद्दीपन विभाव हैं। पाँच वर्ष पर्यन्त कौमार, दस वर्ष पर्यन्त पौगण्ड और पन्द्रह वर्ष पर्यन्त कैशोर और उसके बाद यौवनावस्था होती है—यह साधारण नियम है, किन्तु श्रीकृष्णका व्रजमें प्रकट-विहार तो दस वर्ष आठ मास तक ही प्रसिद्ध है। अतएव श्रीकृष्णकी अपेक्षाकृत अल्पायुमें ही वयोवृद्धिको मानकर तीन वर्ष चार मास पर्यन्त कौमार उसके पश्चात्

छह वर्ष आठ मास पर्यन्त पौगण्ड तदनन्तर दस वर्ष आठ मास तक कैशोरावस्था होती है। उसके बाद भी श्रीकृष्णकी सदा कैशेरावस्था रहती है। व्रजमें दस वर्ष ही उनका शेष कैशोर है और इस शेष कैशोर अवस्थामें ही वे सर्वकाल अवस्थान किया करते हैं। सप्तम वर्षके वैशाख मासमें उनकी कैशोरावस्था आरम्भ होती है। इसलिए पौगण्डावस्थामें ही गोपियोंके साथ विहार प्रसिद्ध है। सखियोंमें भी गोपियोंकी कौमार, पौगण्ड और कैशेरावस्था इसी प्रकार जाननी चाहिए। इस वयस (आयु)का विचार यहाँ प्रसंगानुसार लिखा गया है।

सख्य रसमें बाहुयुद्ध, क्रीड़ा और एक शय्या पर शयन आदि अनुभाव हैं। अश्रु-पुलकादि सभी सात्त्विक भाव होते हैं। हर्षगर्वादि संचारी भाव हैं। हम सभी समान हैं—इस भावके कारण सम्भ्रम या गौरव-रहित-विश्वास-विशेषरूपसे सख्यरति ही स्थायी भाव है। सख्यरति उत्तरोत्तर वृद्धि प्राप्त होकर सख्य, प्रणय, प्रेम, स्नेह और राग—यह पाँच नाम धारण करती है। द्वारकामें अर्जुन, भीमसेन, सुदामाविप्र आदि सखा हैं। इस सख्यरसमें भी दास्य रसकी भाँति वियोगमें होनेवाली पूर्वोक्त दसों दशाएँ होती हैं॥२०॥

वात्सल्यरस

अथ वात्सल्यरसे कोमलाङ्गो विनयी सर्वलक्षणयुक्त इत्यादिगुणः श्रीकृष्णो विषयालम्बनः। श्रीकृष्णे अनुग्राह्यभाववन्तः पित्रादयो गुरुजना अत्र व्रजे व्रजेश्वरी व्रजराज-रोहिण्युपनन्दतत्पत्नयादयः। अन्यत्र देवकी-कुन्ती वसुदेवादयश्च-आश्रयालम्बनाः। स्मितजल्पित-बाल्यचेष्टादय उद्दीपन विभावाः। मस्तकाघ्राणशीर्वाद-लालन-पालनादयोऽनुभावाः। सात्त्विकाः स्तम्भ-स्वेदादयः सर्व एव

स्तनस्रवणमिति नवसंख्याः। हर्षशंकाद्या व्यभिचारिणः। वात्सल्यरतिः स्थायी भावः। प्रेमस्नेहरागाश्चात्र भवन्ति। अत्रापि वियोगे पूर्ववत् दश दशाः। इति वात्सल्यरसः॥२१॥

वात्सल्यरस

श्रीबिन्दु–विकाशिनी–वृत्ति—वात्सल्यरसमें कोमलाङ्ग, विनयी, सर्वसुलक्षण–सम्पन्नादि गुणोंसे विशिष्ट्य कृष्ण ही विषयालम्बन हैं। ममतायुक्त, अनुग्रह भावसम्पन्न (श्रीकृष्णही जिनके कृपा पात्र हैं ऐसे भावयुक्त) मातापिता आदि गुरुजन—व्रजराज श्रीनन्दमहाराज, व्रजेश्वरी श्रीयशोदाजी, रोहिणी मैया, उपानन्द और उनकी पत्नी तुङ्गी (नन्दबाबाके छोट–बड़े भैया और उनकी पत्नियाँ) एवं मथुरा–द्वारकामें वसुदेव–देवकी, कुन्ती आदि आश्रयालम्बन हैं। मुस्कराना, मृदु–मधुर बोली और बाल्यचेष्टा आदि उद्दीपन विभाव हैं। मस्तक सूँघना, आशीर्वाद देना, लालन–पालन करना आदि अनुभाव हैं। स्तम्भ–स्वेदादि आठ एवं स्तनसे दुग्ध झरना—ये कुल नौ सात्त्विक भाव हैं। हर्ष और शंका प्रभृति व्यभिचारी भाव हैं। इस रसमें वात्सल्य रति स्थायीभाव है। वात्सल्य रतिमें प्रेम, स्नेह और राग—ये तीन अवस्थाएँ उत्तरोत्तर प्रकट होती हैं। इस रसमें भी वियोगके समय पूर्वोक्त दस दशाएँ होती हैं।

मधुर या शृङ्गार रस

अथ मधुररसे रूपमाधुर्य–लीलामाधुर्य–प्रेममाधुर्यसिन्धुः श्रीकृष्णो विषयालम्बनः। प्रेयसीगणः आश्रयालम्बनः। मुरलीरववसन्त–कोकिलनाद–नवमेधमयूरकण्ठादिदर्शनाद्याः उद्दीपन विभावाः। कटाक्ष–हास्यादयोऽनुभावाः। सर्व एव सात्त्विकाः सुदीप्तपर्यन्ताः।

निर्वेदाद्याःसर्वे आलस्यौग्र्यरहिताः संचारिणः। प्रियतारतिः स्थायी भावः। प्रेमस्नेहरागाद्याः श्रीलोज्ज्वलनीलमण्युक्ताः सर्व एव भवन्ति। इति मधुररसः॥२२॥

मधुररस

श्रीबिन्दु–विकाशिनी–वृत्ति—मधुररसमें रूपमाधुर्य, वेणुमाधुर्य, लीलामाधुर्य और प्रेममाधुर्यके आधारभूत श्रीकृष्ण ही विषयालम्बन हैं। प्रेयसीवृन्द (गोपरमणियाँ) आश्रयालम्बन हैं। मुरलीध्वनि, बसन्तऋतु कोकिलकी कूक, मयूरकण्ठ प्रभृतिके दर्शन आदि

पाद–टीका—श्रीमद्भागवत और श्रीगोस्वामी ग्रन्थोंमें वर्णित रस सम्पूर्णरूपसे शुद्ध, अप्राकृत और चिन्मय होता है। वह बद्धजीवोंकी मानसिक भावनाओंसे सर्वथा अतीत और दुर्लभ होता है। बद्धजीव जड़–जड़चिन्ता अथवा अजड़ चिन्तारूप निर्विशेष भाव—इस प्रकारकी भावना करनेके लिए ही बाध्य है। किन्तु सौभाग्यवश भक्त या भगवान्‌की कृपासे उपयुक्त पद्धतिसे साधन–भजन करने पर अनर्थोंके दूर होने पर उसकी चित–चिन्मयी सत्ता पर भगवान्‌के नित्यसिद्ध परिकरोंका नित्यसिद्ध भाव शुद्धसत्त्वके रूपमें आविर्भूत होता है। क्रमशः उसकी सामान्य रति स्थायीभावके रूपमें परिवर्तित होती है और उसके ऊपर विभाव, अनुभाव, सात्त्विक, व्यभिचारी आदि भावोंका मिलन होता है, तब वह जीव शुद्ध भक्तिरसका आस्वादन करता है। अतः श्रीरूपगोस्वामीने श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुमें रसतत्त्वका विवेचन करते हुए रस शब्दकी संज्ञा इस प्रकार निर्धारित की है—

व्यतीतभावनावर्त्म यश्चमत्कारभारभूः।
हृदि सत्त्वोज्ज्वले वाढ़ं स्वदते स रसो मतः॥

(भ०र०सि० द०वि० ५ वह–७९)

अर्थात् भावना पथका अतिक्रमण कर चमत्कारपूर्ण आधार–स्वरूप भूमिकामें (चिन्मय जीव हृदयमें) जो स्थयीभाव शुद्धसत्त्वके द्वारा उज्ज्वलीकृत हृदयमें आस्वादित होता है, वही रस शब्द वाच्य है। यही मेरा अभिमत है।

उद्दीपन विभाव हैं। कटाक्ष और हास्यादि अनुभाव हैं। स्तम्भादि सभी सात्त्विक भाव सुद्दीप्त अवस्था पर्यन्त होते हैं। आलस्य और उग्रताको छोड़कर निर्वेदादि समस्त संचारी भाव होते हैं। प्रियता–रति ही स्थायीभाव है। इस रसमें प्रेम–स्नेह–मान–प्रणय–राग–अनुराग–महाभाव–मोदन–मोदन आदि उज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थमें उल्लिखित सभी अवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती हैं॥२२॥

रसोंकी परस्पर मैत्री और वैर भावका विवेचन

अथैषां मैत्रिवैरस्थितिः। शान्तस्य दासस्य परस्परं मैत्री। सख्यवात्सल्यौ तटस्थौ। वात्सल्यस्य न केनापि मैत्री। उज्ज्वल दास्यरसौ शत्रू। इति मैत्रीवैरस्थितिः॥२३॥

रसोंकी परस्पर मैत्री और वैर भावका विवेचन

श्रीबिन्दु–विकाशिनी–वृत्ति—शान्त और दास्यकी परस्पर मित्रता है। सख्य और वात्सल्य तटस्थ हैं अर्थात् मैत्री और वैर दोनों भावोंसे रहित हैं। वात्सल्यके साथ किसीकी भी मैत्री नहीं है। मधुर और दास्य परस्पर शत्रु–भावापन्न हैं॥२३॥

भावोंका सम्मिश्रण

अथ भावमिश्रणम्। श्रीबलदेवादीनां सख्यं वात्सल्यं दास्यञ्च। मुखराप्रभृतीनां वात्सल्यं सख्यञ्च। युधिष्ठिरस्य वात्सल्यं सख्यञ्च। भीमस्य सख्यं वात्सल्यञ्च। अर्जुनस्य सख्यं दास्यञ्च। नकुलसहदेवयोर्दास्यं सख्यञ्च। उद्धवस्य दास्यं सख्यञ्च। अक्रूरोग्रसेनादीनां दास्यं वात्सल्यञ्च। अनिरुद्धादीनां दास्यं सख्यञ्च। एवं पञ्च मुख्यरसाः समाप्ताः॥२४॥

भावोंका सम्मिश्रण

श्रीबिन्दु-विकाशिनी-वृत्ति—बलदेवादिमें सख्य, वात्सल्य और दास्य—इन तीनों रसोंका मिश्रण है। मुखरामें वात्सल्य और सख्य, युधिष्ठिरमें वात्सल्य और सख्य, भीमसेनमें सख्य और वात्सल्यका मिश्रण है। अर्जुनमें सख्य और दास्य तथा नकुल-सहदेवमें दास्य और सख्यका मिश्रण है। श्रीउद्धवजीका दास्य और सख्य मिश्रित भाव है। अक्रूर और उग्रसेन आदिमें दास्य और वात्सल्यका मिश्रण है। अनिरुद्धादिका दास्य और सख्य है। इस प्रकार पाँचों मुख्य रसोंका वर्णन संक्षेपमें समाप्त हुआ॥२४॥

गौणरस

अथ हास्याद्भुतवीरकरुणरौद्रभयानकवीभत्साः सप्तगौणभक्तिरसाः पञ्चविधभक्तेष्वेवोदयन्ते। अत एव पंचविधभक्ता आश्रयालम्बनाः। हास्यादीनां षण्णां रसानां श्रीकृष्णश्च श्रीकृष्णभक्ताश्च तत्सम्बन्धिनश्च विषयालम्बनाः। वीभत्सस्य तु धृणास्पदामेध्यमांस शोणितादयो विषयाः। रौद्र भयानकयोः श्रीकृष्णशत्रवोऽपि विषयाः। गण्डविकाश-नेत्रविस्फारादयो यथा सम्भवमनुभावाः। सात्विका अपि यथासम्भवं द्वित्राः। हर्षामर्याद्या व्यभिचारिणिः। हासो विस्मय उत्साहः क्रोधशोकौ भयं तथाजुगुप्सा चेत्यसौ भावविशेषः सप्तधोदितः। हास्यादीनामयी क्रमेण स्थायिभावाः। किञ्च वीररसे युद्धदानदयाधर्मेषु उत्साहवशात् युद्धवीरः, दानवीरः, दयावीरः, धर्मवीर इति चतुर्द्धा वीररसः। इति सप्त गौणरसाः। एवं मिलित्वा द्वादशरसा भवन्ति॥२५॥

गौणरस

श्रीबिन्दु-विकाशिनी-वृत्ति—हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और वीभत्स—ये सात भक्तिके गौणरस हैं।

पूर्वोक्त पञ्चविध भक्तोंमें ही इन गौणरसोंका उदय देखा जाता है। इसलिए पाँच प्रकारके भक्त ही इनके आश्रयालम्बन हैं। हास्यादि छह रसोंके श्रीकृष्ण, उनके भक्तगण और भक्तोंसे सम्बन्धित व्यक्ति विषयालम्बन हैं। घृणास्पद और अपवित्र माँस, रुधिरादि वीभत्स रसके विषय हैं। श्रीकृष्णके शत्रु भी रौद्र और भयानक रसके विषय हुआ करते हैं। कपोलोंका विकास, नेत्रोंका विस्फार आदि यथासम्भव अनुभाव हैं। सात्त्विक भाव भी यथासम्भव दो-तीन प्रकट हो सकते हैं। हर्ष और क्रोधादि व्यभिचारी भाव हैं। हास्यका हंसना, अद्भुतका विस्मय, वीरका उत्साह, करुणका शोक, रौद्रका क्रोध, भयानकका भय और वीभत्सका घृणा स्थायी भाव है। पुनः वीररसमें युद्ध, दान, दया और धर्म आदिमें उत्साहके कारण-युद्धवीर, दानवीर, दयावीर और धर्मवीर ये चार अवान्तर भेद होते हैं। इस प्रकार पाँच मुख्य और सात गौण रस मिलाकर बारह प्रकारके रस होते हैं।

मुख्यरसोंमें गौणरसोंका अन्तर्भाव

अथैषां सप्तगौणानां पञ्चसु मुख्यरसेषु अन्तर्भावो यथा— हास्ययुद्धवीरयोः सख्ये। अद्भुतस्य सर्वत्र। करुणादानवीरदयावीराणां वात्सल्ये। भयानकस्य वात्सल्ये दास्ये च। वीभत्सस्य शान्ते। रौद्रस्य क्रोधरतिवात्सल्योज्ज्वलरसपरिवारेषु एकांशेनेत्यनेनैव परस्परं मैत्री वैरञ्च युक्त्या ज्ञेयम्॥२६॥

मुख्यरसोंमें गौणरसोंका अन्तर्भाव

श्रीबिन्दु-विकाशिनी-वृत्ति—उक्त सप्तगौण रसोंका पञ्च मुख्य रसोंमें अन्तर्भाव हो सकता है। जैसे—सख्यमें हास्य

और युद्धवीरका, अद्भुतका सभी मुख्य रसोंमें, दानवीर और दयावीरका वात्सल्यमें, भयानकका वात्सल्य और दास्यमें तथा वीभत्सका शान्तमें अन्तर्भाव हो सकता है। रौद्रकी क्रोध रतिका वात्सल्य और मधुर रसमें एकांशसे अन्तर्भाव होता है। अन्तर्भावके द्वारा ही इन रसोंके पारस्परिक वैर या मैत्री भावको युक्तिके द्वारा जान लेना चाहिए॥२६॥

रसाभासका विवेचन

वैररसस्य स्मरणे राध्यत्वे वा विषयाश्रयभेदे वा उपमायां वा रसान्तरव्यवधानेन वा वर्णने सति न रसाभासः। अन्यथा तु परस्परवैरयोर्यदि योग स्तदा रसाभासः। यदि परस्परं मित्रयोगस्तदा सुरसता। मुख्यानान्तु विषयाश्रयभेदेऽपि वैरयोगे रसाभास एव। एवमधिरूढ़हाभावे केवलं श्रीराधायान्तु वैरयोगेऽपि वर्णनपरिपाट्यां न रसाभासः। किंच कृष्णो यदि स्वयमेकदैव सर्वरसानां विषयो वा आश्रयो वा तदापि न रसाभासः। अथान्येऽपि रसाभासाः केचित् ग्राह्यप्रायाः—श्रीकृष्णे यदि ब्रह्मतश्चमत्काराधिक्यं न भवति तदा शान्तरसाभासः। श्रीकृष्णाग्रे यदि दासस्यातिधार्ष्ट्यं भवति तदा दास्यरसाभासः, द्वयोर्मध्ये एकस्य सख्यभावः अन्यस्य दास्यभाव स्तदा सख्यरसाभासः, पुत्रादीनां बलाधिक्य–ज्ञानेन लालनाद्यकरणं वात्सल्यरसाभासः द्वयोर्मध्ये एकस्य रमणेच्छान्यस्य नास्ति प्रकटमेव सम्भोगप्रार्थनं वा तदोज्ज्वलरसाभासः, श्रीकृष्णसम्बन्धवर्ज्जिताश्चेत् हास्यादयस्तदा ते हास्यादिरसाभासाः, यदि श्रीकृष्णवैरिषु भवन्ति तदा अतिरसाभासाः॥२७॥

अनधीतव्याकरणश्चरण–प्रवणो हरे जनो यस्मात्।
भक्तिरसामृतसिन्धुबिन्दुतो बिन्दुरूपेण॥

इति महामहोपाध्याय–श्रीविश्वनाथ–चक्रवर्त्ति विरचितः भक्तिरसामृतसिन्धुबिन्दुः समाप्तः ॥

रसाभासका विवेचन

अन्तमें रसाभासको समझ लेना भी आवश्यक है। वैर रसका स्मरणमें, प्रशंसामें, विषयाश्रयके भेदमें, उपमामें, दूसरे रसके व्यवधानमें वर्णन करने पर भी रसाभास नहीं होता। अन्यथा परस्पर वैर भाववाले दो रसोंका योग होने पर ही रसाभास हो जाता है। परस्पर मित्र–भावापन्न दो रसोंके योगसे सुरसता होती है। मुख्य सब रसोंके विषय–आश्रयमें भेद होने पर वैरके योगसे रसाभास हो जाता है। केवल श्रीमती राधिकाजीके अधिरूढ़ महाभावमें वैरके योगसे भी वर्णन करनेकी परिपाटी रहने पर रसाभास नहीं होता। श्रीकृष्ण स्वयं यदि एक ही समयमें सभी रसोंके विषय या आश्रय हों, तो भी उसमें रसाभास नहीं होता।

इसके अतिरिक्त और भी कुछ रसाभास हो सकते हैं। जैसे—परब्रह्म स्वरूप श्रीकृष्णमें ब्रह्मसे कुछ अधिक चमत्कार न दीख पड़े, तब शान्त रसाभास होता है। कृष्णके सामने यदि उनके किसी दासमें अतिशय धृष्टता प्रकाशित हो, तो वह दास्य रसाभास होता है। दो सखाओंके बीचमें यदि एक सख्य भाव हो और दूसरेका दास्य भाव हो, तो सख्य रसाभास होता है। पुत्रादिमें अधिक बल हो जानेके कारण उनके प्रति लालन–पालनके न करनेसे वात्सल्य रसाभास होता है। नायक और नायिकामें से यदि एककी रमण करनेकी इच्छा रहे और दूसरेकी न रहे अथवा दोनोंमें से एककी प्रकाश्य रूपमें संभोग प्रार्थना देखी जाय, तब मधुर

रसाभास या उज्ज्वल रसाभास होता है। हास्यादि गौण-रस-समूह यदि कृष्ण सम्बन्धसे रहित हों, तो वे भी रसाभास हो जाते हैं। पुनः यह हास्य इत्यादि श्रीकृष्णके शत्रुओंमें हों, तो वह अति रसाभासके अन्तर्गत परिगणित होते है।

अन्तमें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं—जिन्होंने व्याकरण शास्त्रका अध्ययन नहीं किया है अथच श्रीहरिकी चरण-सेवाके प्रति उन्मुख हैं, वे इस भक्तिरसामृतसिन्धुबिन्दुके द्वारा बिन्दुके रूपमें श्रीहरिके चरणोंमें आसक्त हों।

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुबिन्दुका 'बिन्दु-विकाशिनी-वृत्ति' नामक भावानुवाद समाप्त॥